MHI-03

इतिहास-लेखन

भारतीय इतिहास–लेखन की विभिन्न दृष्टियां और विषय–1

6

"शिक्षा मानव को बन्धनों से मुक्त करती है और आज के युग में तो यह लोकतंत्र की भावना का आधार भी है। जन्म तथा अन्य कारणों से उत्पन्न जाति एवं वर्गगत विषमताओं को दूर करते हुए मनुष्य को इन सबसे ऊपर उठाती है।"

— इन्दिरा गांधी

"Education is a liberating force, and in our age it is also a democratising force, cutting across the barriers of caste and class, smoothing out inequalities imposed by birth and other circumstances."

– Indira Gandhi

MHI-03
इतिहास-लेखन

खंड

6

भारतीय इतिहास-लेखन की विभिन्न दृष्टियां और विषय-1

कार्यक्रम संयोजक : प्रो. ए. आर. खान

पाठ्यक्रम सम्पादक : प्रो. सब्यसाची भट्टाचार्य

पाठ्यक्रम संयोजक : डॉ. शशिभूषण उपाध्याय

खंड निर्माण दल

इकाई संख्या	इकाई लेखक	इग्नू संकाय
इकाई 19	प्रो. सब्यसाची भट्टाचार्य सेंटर फॉर हिस्टोरिकल स्टडीज, जेएनयू, नई दिल्ली	डॉ शशिभूषण उपाध्याय (संरचना संपादन)
इकाई 20	प्रो. बिपन चंद्र सेंटर फॉर हिस्टोरिकल स्टडीज, जेएनयू, नई दिल्ली	**अनुवाद** श्रीमती सीमा
इकाई 21	प्रो. बिपन चंद्र सेंटर फॉर हिस्टोरिकल स्टडीज, जेएनयू, नई दिल्ली	
इकाई 22	डॉ. शशिभूषण उपाध्याय इतिहास संकाय इग्नू, नई दिल्ली	
इकाई 23	प्रो. रजत राय इतिहास विभाग प्रेसिडेंसी कॉलेज, कोलकाता	

सामग्री निर्माण

श्री जितेन्द्र सेठी
इग्नू, नई दिल्ली

श्री एस.एस. वेंकटाचलम
श्री मनजीत सिंह
इग्नू, नई दिल्ली

जुलाई, 2006

ISBN-81-266-2478-7

इन्दिरा गाँधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रमों के विषय में और अधिक जानकारी विश्वविद्यालय के कार्यालय, मैदान गढ़ी, नई दिल्ली-110068 से प्राप्त की जा सकती है।

इन्दिरा गाँधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय की ओर से निदेशक, सामाजिक विज्ञान विद्यापीठ द्वारा मुद्रित एवं प्रकाशित।
"Paper used: Agrobased Environment Friendly"
लेजर कम्पोजिंग : राजश्री कम्प्यूटर्स, V-166A, भगवती विहार, उत्तम नगर, नई दिल्ली-110059
मुद्रक : करन प्रैस, जैड - 41, ओखला फेस - 2, नई दिल्ली – 110020

खंड 6 भारतीय इतिहास लेखन की विभिन्न दृष्टियां और विषय-1

इस खंड में आपको उन्नीसवीं शताब्दी के आरंभ से इतिहास की कुछ प्रमुख 'स्कूलों' से परिचित कराया जाएगा। जब हम इतिहास-लेखन में स्कूल की बात करते हैं तो इसमें कुछ साझा लक्षणों के आधार पर हम इतिहास के कई लेखकों पर एक साथ विचार करते हैं। कई कारणों से इतिहासकारों में इतिहास-लेखन की सामान्य विशेषताएं पाई जाती हैं। कभी हम इसे अपने समय का प्रभाव भी कहते हैं यानी समान ऐतिहासिक अनुभव को साझा करनेवाले व्यक्तियों की दृष्टियों में भी समानता होती है। विभिन्न वर्गों या हैसियत समूहों के साझा हितों के कारण भी दृष्टिकोण में समानता दिखाई पड़ सकती है। किसी खास स्कूल से जुड़े होने के कारण भी साझा दृष्टिकोण विकसित हो सकता है—यह भी सामुदायिक हितों की अवधारणा से अलग नहीं है।

इतिहास के प्रति लेखकों का जो दृष्टिकोण या विचार होता है उसका मूल कुछ भी हो परंतु इतिहास लेखक अपने लेखन में आमतौर पर इसका जिक्र नहीं करता। इतिहास-लेखन संबंधी इस अध्ययन में हम साझा विशिष्टताओं और उनके संभावित उद्‌भव को पहचानने का प्रयास करेंगे। ऐसा करना तभी संभव है जब हम इस लेखन की बाल की खाल न निकालें और जानबूझकर किसी छिपी मंशा या साजिश की बात न करें। इसके अलावा, जैसा कि इस खंड की पहली इकाई में बताया गया है, इतिहास की एक 'स्कूल' से जुड़ा हर इतिहासकार उसकी सभी विशिष्टताओं से सहमत नहीं हो सकता है। वस्तुतः वह स्कूल की प्रमुख प्रवृत्ति से जुड़ा होता है।

उन्नीसवीं शताब्दी के दौरान भारत में इतिहास-लेखन मुख्य रूप से उपनिवेशवादी स्कूल से जुड़ा रहा। इस इकाई में इस पर विचार करते हुए उपनिवेशवादी इतिहास-लेखन का एक सिलसिला दिखाया गया है और यह भी बताया गया है कि इस स्कूल के इतिहासकारों की अमूनन क्या दृष्टि रही है। इसके बाद इतिहास-लेखन की इस स्कूल के योगदान और सीमाओं का मूल्यांकन किया गया है। खंड 6 और 7 यानी इस और आगे आनेवाले खंड में मोटे तौर पर यही पद्धति अपनाई गई है।

अलग-अलग लेखकों ने इस खंड की अलग-अलग इकाइयों में उपनिवेशवादी राष्ट्रवादी, सम्प्रदायवादी, मार्क्सवादी और कैम्ब्रिज स्कूल संबंधी व्याख्याओं का अलग-अलग परीक्षण किया है। अतः इसमें आपको इन स्कूलों के बीच होने वाले वैचारिक विवाद का जिक्र नहीं भी मिल सकता। परंतु दूसरी ओर इतिहास-लेखन की इन स्कूलों के बीच होनेवाले टकरावों और बहसों की झलक मिल सकती है। यदि उपनिवेशवादी स्कूल ब्रिटिश शासन के फायदों पर बल देती है तो राष्ट्रवादी स्कूल उपनिवेशवाद के शोषणात्मक और दमनात्मक चेहरों को सामने रखती है जबकि मार्क्सवादी औपनिवेशिक शोषण के साथ-साथ वर्गीय शोषण को भी सामने लाते हैं। सम्प्रदायवादी इतिहासकार (इसमें हिंदू और मुस्लिम दोनों ही समुदायों के लोग शामिल हैं) इतिहास की व्याख्या करते समय धर्म को आधार बनाते हैं जिसके कारण अन्ततः भारत को सम्प्रदायवादी आधार पर विभाजित होना पड़ा। कुछ उपनिवेशवादी इतिहासकारों ने भी सम्प्रदायवादी भावना को बढ़ावा दिया। इस खंड में शामिल इकाई को पढ़कर यह स्पष्ट हो जाएगा कि तथाकथित कैम्ब्रिज स्कूल 'संशोधनवादी' विचारधारा का प्रतिनिधित्व करता है जो खासतौर पर राष्ट्रवादी स्कूल का आलोचक है और कई बार उन्नीसवीं शताब्दी और आरंभिक बीसवीं शताब्दी के उपनिवेशवादी दृष्टिकोण को फिर से उभारने का प्रयत्न करता है। परंतु तथाकथित कैम्ब्रिज स्कूल के इतिहासकार अपने दृष्टिकोण और व्याख्या में काफी अलग हैं और उनकी एक स्कूल से संबंद्ध होने पर भी प्रश्न चिह्न लगाया जा सकता है। कुल मिलाकर खंड 6 में इतिहास को लेकर विभिन्न स्कूलों की

टकराहट सुनाई पड़ती है परंतु इसमें भारतीय अतीत को समझने संबंधी सभी विचारधारात्मक दृष्टियों को समेटा नहीं जा सका है। खंड 7 में हम कुछ अन्य विचारधारात्मक दृष्टियों और इतिहास-लेखन संबंधी दृष्टियों की खोजबीन करेंगे। एक महत्वपूर्ण बात आपको समझ लेनी चाहिए कि विभिन्न स्कूलों से जुड़े इतिहास लेखक भविष्य के आइने में अगल-अलग ढंग से अतीत को देखने और उसकी व्याख्या करने का प्रयास करते हैं। एक इतिहास के विद्यार्थी होने के नाते आपको इस सागर का मंथन खुद करना होगा और निर्णय भी खुद लेना होगा। इसलिए इतिहास पढ़ते समय इतिहासकार के वैचारिक आधारों का ठीक से परीक्षण करना चाहिए और इतिहासकार जो प्रमाण रख रहा है उसको भी परखना चाहिए। इसके बाद ही आप विभिन्न विचारधाराओं का मूल्यांकन कर सकेंगे और इतिहासकारों को बेहतर ढंग से समझ सकेंगे। यदि आप मूल्यांकन करते समय और पढ़ते समय आलोचनात्मक दृष्टि नहीं रखेंगे तो इतिहास-लेखन के विभिन्न स्कूलों को पढ़ना कुछ सूत्र वाक्यों को जानने से अधिक नहीं होगा। इससे आप उलझन में भी पड़ सकते हैं। इतिहासकारों की व्याख्याओं को पढ़कर आप दुविधा में पड़ सकते हैं कि क्या सही है क्या गलत। वस्तुतः इतिहास-लेखन के अध्ययन का उद्देश्य इतिहास को पढ़ने और समझने की आलोचनात्मक दृष्टि का विकास करना है।

इकाई 19 उपनिवेशवादी इतिहास-लेखन

इकाई की रूपरेखा

19.1 प्रस्तावना

उपनिवेशवादी इतिहास-लेखन पर विचार करने से पहले इसका अर्थ स्पष्ट करना आवश्यक है। उपनिवेशवादी इतिहास-लेखन का तात्पर्य है (क) औपनिवेषिक शासन के दौरान उपनिवेश बनाए गए देशों का इतिहास (ख) उपनिवेशवादी स्कूल से प्रभावित इतिहासकारों से सामान्य तौर पर जुड़े विचार और दृष्टिकोण। ब्रिटिशकालीन भारत में इसका प्रयोग पहले अर्थ में हुआ और आजादी के बाद जाकर दूसरे अर्थ को महत्व मिला। ब्रिटिशकालीन अधिकांश प्रमुख इतिहासकार ब्रिटिश शासन में सरकारी अधिकारी थे और उस समय उपनिवेशवादी इतिहास का तात्पर्य इतिहास में निहित स्कूल की अपेक्षा उसके विषय से संबद्ध था। आज इस स्कूल की आलोचना की जाती है और 'उपनिवेशवादी इतिहास-लेखन' को प्रशंसा की निगाह से नहीं देखा जाता। इस इकाई में हम 'उपनिवेशवादी इतिहास-लेखन' पद का उपयोग ऊपर चर्चित दोनों ही अर्थों में करेंगे।

एक अर्थ में अध्ययन के विषय के रूप में उपनिवेशवादी इतिहास और विचारधारा के रूप में उपनिवेशवादी दृष्टिकोण परस्पर संबद्ध है। ब्रिटिश इतिहासकारों के इतिहास ग्रंथों में साम्राज्य निर्माण के विषय ने स्वाभाविक तौर पर भारत में अंग्रेजों के शासन को न्यायोचित ठहरानेवाले विचारों को जन्म दिया। अलग-अलग इतिहासकारों ने अलग-अलग तर्क प्रस्तुत किए और भारतीय समाज और संस्कृति की न केवल आलोचना की बल्कि अपमान भी किया। भारत को जीतनेवाले और शासन करने वाले सैनिकों और प्रशंसकों की भूरि-भूरि प्रशंसा की गई और ऊंची आवाज में पूरी दुनिया को बताया गया कि पैक्स ब्रिटानिका अर्थात अंग्रेजों द्वारा प्रदान की गई शांति से भारत को कितना फायदा हुआ है। हम इस विचारधारा के बारे में विस्तार से अध्ययन करेंगे परंतु यह ध्यान रखना महत्वपूर्ण है कि विचारधारात्मक चेतना का अभाव उपनिवेशवादी इतिहास-लेखन की विशिष्टता थी। लियोपोल्ड फान रानके और प्रत्यक्षवादी इतिहास-लेखन ने उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी में अपना प्रभाव जमाए रखा और 'इतिहासकार की वस्तुनिष्ठता' की धारणा पर बल दिया और इस प्रकार ऐतिहासिक विमर्श में विचारधारात्मक जुड़ाव की संभावना को परे हटा दिया। आजादी के बाद आजादी के पूर्व इतिहास-लेखन की आलोचना के क्रम में उपनिवेशवादी इतिहास-लेखन के विचारधारात्मक आयाम उभर कर सामने आए। यह आलोचना मुख्य रूप से भारत में उभरी, जबकि स्कूल ऑफ ओरिएंटल ऐंड अफ्रीकन स्टडीज ऑफ लंदन के सी एच फिलिप्स ने अपनी पुस्तक *द हिस्टोरियन्स ऑफ इंडिया, पाकिस्तान ऐंड सिलोन* में इतिहास-लेखन का विस्तृत सर्वेक्षण करते हुए भी यह मुद्दा नहीं उठाया।

19.2 औपनिवेशिक भारत के प्रमुख इतिहास ग्रंथ

इतिहास-लेखन में उपनिवेशवादी स्कूल पर विचार करने से पहले उन इतिहासकारों के बारे में जानकारी प्राप्त कर लें जिनकी हम चर्चा करने जा रहे हैं। अठारहवीं शताब्दी में इतिहास-लेखन न के बराबर था। इस दौरान अंग्रेज भारत पर अपनी सत्ता स्थापित करने में इस कदर व्यस्त थे कि उन्हें इतिहास लिखने का अवसर कहां मिलता। अठारहवीं शताब्दी में चार्ल्स ग्रांट एक ऐसे प्रमुख लेखक हुए जिन्होंने अपने लेखन में इतिहास का पुट दिया और 1792 में उन्होंने *ऑबजरवेशन्स ऑन द स्टेट ऑफ सोसाइटी एमंग द एसिएटिक सब्जेक्ट्स ऑफ इंडिया* नामक पुस्तक लिखी। वे 'इवैंजेलिकल स्कूल' अर्थात ईसाई धर्म प्रचारक स्कूल से जुड़े थे जिसका यह मानना था कि भारत में ईसाई धर्म की रोशनी फैलाना अंग्रेज शासकों को प्राप्त दिव्य नियति है और जिसका उद्देश्य भारत को आदिम धार्मिक आस्थाओं और अंधविश्वासों के अथाह गर्त से बाहर निकालना है। हालांकि उन्नीसवीं शताब्दी के आरंभिक दशकों तक भारतीय समाज और इतिहास पर इस प्रकार का लेखन एक प्रकार का अपवाद ही था। उन्नीसवीं शताब्दी के दूसरे दशक में भारत में अंग्रेजों का शासन मजबूत हुआ और अब वे अपने हाथ पैर फैलाने लगे। 1815 में नेपोलियन और फ्रांस पर विजय प्राप्त करने के बाद ब्रिटेन यूरोप की न केवल प्रथम दर्जे की ताकत बन गया बल्कि ब्रिटेन में पहली औद्योगिक क्रांति हुई और यह दुनिया के सर्वाधिक औद्योगिकृत देश के रूप में उभरा। भारत के बारे में अंग्रेजों द्वारा किया गया लेखन उनके घमंड और आत्मविश्वास का प्रतीक है जिसके अनुसार वे एक ऐसे देश पर राज करते हैं जो सभी मामलों में पिछड़ा हुआ है। उन्नीसवीं शताब्दी के दूसरे दशक से अंग्रेजों के इतिहास-लेखन में यह दृष्टिकोण साफ दिखाई देता है।

लगभग इसी समय 1806 और 1818 के बीच जेम्स मिल ने भारत के इतिहास पर कई ग्रंथ लिखे और भारत के बारे में अंग्रेजों की सोच पर इसका खासा असर पड़ा। *हिस्ट्री ऑफ ब्रिटिश इंडिया* नामक इस पुस्तक के प्रथम तीन खंडों में प्राचीन और मध्ययुगीन भारत का सर्वेक्षण प्रस्तुत किया गया है जबकि अंतिम तीन खंडों में भारत में अंग्रेजी राज की चर्चा की गई है। इस किताब की धूम मच गई और 1820, 1826 और 1840 में इसका पुनर्मुद्रण हुआ और हेलीबरी स्थित ईस्ट इंडिया के कॉलेज में प्रशिक्षण प्राप्त करनेवाले ब्रिटिश इंडियन सिविल सर्विस ऑफिसर्स के लिए यह आधारभूत पाठ्यक्रम बन गया। 1840 के दशक तक यह पुस्तक अप्रासंगिक हो गई थी और इसके संपादक एच.एच. विलसन ने 1844 में अपनी संपादकीय टिप्पणी में इसका खुलासा किया। (विल्सन ने इस पुस्तक में कई तथ्यात्मक भूलों की ओर भी इशारा किया); इसके बावजूद यह पुस्तक एक क्लासिक कृति मानी जाती रही।

मिल कभी भी भारत नहीं आए और उनकी पूरी पुस्तक भारत के बारे में अंग्रेज लेखकों द्वारा लिखी पुस्तकों की सीमित जानकारी पर आधारित है। भारत में रहने के दौरान कई अंग्रेज अफसरों ने भारत और भारत के लोगों के बारे में अपने पूर्वाग्रह व्यक्त किए थे; उसी का प्रतिबिंबन इस पुस्तक में हुआ है। विश्वसनीयता, वस्तुनिष्ठता और विवेचन की सीमाओं के बावजूद दो कारणों से यह किताब महत्वपूर्ण बनी। इसका एक कारण यह है कि जेम्स मिल दार्शनिक जेरेमी बेंथम द्वारा प्रेरित उपयोगितावादियों के प्रभावशाली राजनीतिक और आर्थिक स्कूल से जुड़े हुए थे। मिल ने भारत का जो इतिहास लिखा उसकी उपयोगितावादी अभिव्यक्ति तो थी ही साथ ही साथ भारत में ब्रिटिश प्रशासन के लिए इसमें यूटिलिटेरियन अर्थात उपयोगितावादी एजेंडा भी अन्तर्निहित था। इस पुस्तक के प्रभावी होने का एक और कारण था जिसकी ओर अक्सर लोगों का ध्यान उतना नहीं जाता जितना जाना चाहिए। उन्नीसवी शताब्दी के शुरूआत में लिखी इस पुस्तक में उस समय की मानसिकता दिखाई पड़ती है। यूरोप में आंग्ल-फ्रांसीसी युद्ध में विजय और औद्योगिक समृद्धि के बाद अंग्रेजों के वर्चस्व के बाद यह मानसिक बुनावट बनी थी। जेम्स मिल घमंड से चूर साम्राज्यवाद का

संदेश प्रसारित करते हैं और उन्होंने वैसा ही लिखा है जैसा उस समय इंगलैंड के पाठक पढ़ना और सुनना चाहते थे।

हालांकि जेम्स मिल इतिहास की उपयोगितावादी व्याख्या प्रस्तुत करते हैं तो दूसरी ओर उनके प्रतिद्वन्दी माउंटस्टूअर्ट एलफिन्स्टन की कृति को दार्शनिक जुड़ाव की दृष्टि से वर्गीकृत करना मुश्किल है। एलफिन्स्टन भारत में प्रशासनिक अधिकारी थे और उन्होंने अपनी नौकरी का अधिकांश समय भारत में बिताया था और उनके पास भारत का इतिहास लिखने के लिए मिल की अपेक्षा अधिक सूचनाएं और साधन उपलब्ध थे। उनकी पुस्तक *हिस्ट्री ऑफ हिन्दू ऐंड मुहम्मडन इंडिया* (1841) भारतीय विश्वविद्यालयों (1857 के बाद स्थापित) में एक मानक पाठ्य पुस्तक बन गई और अगली शताब्दी के आरंभिक वर्षों में इसका पुनर्मुद्रण हुआ। इसके बाद एलफिन्स्टन ने *हिस्ट्री ऑफ ब्रिटिश पावर इन द ईस्ट* नामक पुस्तक लिखी जिसमें अपेक्षाकृत व्यवस्थित रूप से हेस्टिंग्स शासनकाल तक ब्रिटिश शासन के प्रसार और सुदृढ़ीकरण का वर्णन है। एलफिन्स्टन के लेखन से प्रभावित होकर भारतीय इतिहास-लेखन में हिन्दू और मुस्लिम शासनकाल की बजाए प्राचीन और मध्यकाल नामकरण को बढ़ावा मिला। हालांकि खासतौर पर भारत में एलफिन्स्टन की पुस्तकें असरदार पाठ्यपुस्तकें बनी रहीं परंतु 1860 के दशक में जे. टैलब्वाय व्हिलर ने अधिक पेशेवर और बेहतर इतिहास लिखा। व्हिलर ने 1867 और 1876 के बीच पांच खंडों में *हिस्ट्री ऑफ इंडिया* का बृहद इतिहास लिखा और इसके बाद *सर्वे ऑफ इंडिया अन्डर ब्रिटिश रूल* (1886) नामक पुस्तक लिखी।

एलफिन्स्टन के बाद विन्सेंट स्मिथ का नाम प्रमुख है जिन्होंने *हिस्ट्री ऑफ इंडिया* नामक पुस्तक लिखी जो ब्रिटिश इंडियन सिविल सर्वेन्ट इतिहासकारों की लम्बी परम्परा की एक महत्वपूर्ण कड़ी है। 1911 में जब एलफिन्स्टन की ऐतिहासिक कृति 'हिन्दू और मुहम्मदन इंडिया' प्रकाशित हुई तो उसी वर्ष विन्सेंट स्मिथ का समग्र इतिहास प्रकाशित हुआ। उनकी यह कृति प्राचीन भारतीय इतिहास पर किए गए उनके प्रारंभिक शोध और एलफिन्स्टन के बाद अंग्रेज शोधार्थियों द्वारा अर्जित ज्ञान पर आधारित है। 1911 से लगभग बीसवीं शताब्दी के मध्य तक विन्सेंट की लिखी पुस्तक लगभग सभी भारतीय विश्वविद्यालयों में पाठ्यपुस्तक के रूप में पढ़ाई जाती थी। विन्सेंट स्मिथ की पुस्तक को एक पेशेवर लेखन के रूप में देखा जाता था और यह माना जाता था कि इस पुस्तक की जोड़ में कोई और पुस्तक नहीं है। कई मायनों में भारतीय इतिहास के प्रति उनका दृष्टिकोण भारत में अधिकारी के रूप में उनके अनुभव से भी प्रभावित है। 1885 के बाद समय-समय पर होनेवाले राष्ट्रवादी आंदोलनों और 1905 में बंग भंग के खिलाफ होनेवाले राजनीतिक आंदोलन ने भारतीय इतिहास के बारे में उनकी दृष्टि को प्रभावित किया। उदाहरण के लिए बार-बार वे भारत की एकता की क्षणभंगुरता की ओर इशारा करते थे और वे यह जताने की कोशिश करते थे कि यदि मजबूत साम्राज्यी सत्ता कायम न रही तो चारों ओर बदअमनी फैल जाएगी और देश टुकड़ों-टुकड़ों में बंट जाएगा। भारतीय पाठकों को उन्होंने बार-बार बड़े प्राचीन और मध्ययुगीन भारतीय साम्राज्यों के पतन का हवाला देते हुए बताया है कि शाही ब्रिटेन के मजबूत हाथों में भारत सुरक्षित है और इससे स्थायित्व और शांति प्राप्त है। जिस दिन ब्रिटिश सत्ता समाप्त होगी उस दिन ब्रिटिश शासन द्वारा अर्जित सारे विकास मिट्टी में मिल जाएंगे। विन्सेंट स्मिथ ने राष्ट्रवादी आंदोलन की संभावनाओं और भारतवासियों को अपनी नियति का फैसला खुद करने देने के 'राजनीतिक' प्रश्न को परे हटा दिया और उसको तवज्जो नहीं दी।

परंतु ब्रिटिश शासन के अंतिम वर्षों में यह राजनीतिक प्रश्न महत्वपूर्ण होता जा रहा था और 1934 में भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन के राजनीतिक दृष्टिकोण को अधिक बेहतर ढंग से प्रस्तुत करने वाली ऐतिहासिक कृति का प्रकाशन हुआ। *राइज ऐंड फुलफिलमेंट ऑफ ब्रिटिश रूल इन इंडिया* नामक यह कृति पिछली ऐतिहासिक कृतियों से अलग थी और इसमें एक उदारवादी दृष्टिकोण अपनाया गया था और काफी हद तक भारतीय राष्ट्रीय आकांक्षाओं को अभिव्यक्ति दी गई थी। इसके लेखक *एडवर्ड थॉम्पसन* और *जी.टी. गैरैट* थे। एडवर्ड थॉम्पसन

एक धर्म प्रचारक थे जिन्होंने बंगाल के कॉलेज में कई सालों तक अध्यापन कार्य किया था और वे रवीन्द्रनाथ टैगोर के अच्छे मित्र थे। जी.टी. गैरेट एक प्रशासनिक अधिकारी थे। ग्यारह साल भारत में नौकरी के बाद उन्होंने इंगलैंड में लेबर पार्टी की सदस्यता ग्रहण की। अपनी इस पृष्ठभूमि के कारण प्रशासनिक अधिकारियों द्वारा लिखे गए इतिहासों से उनका नजरिया अलग था। थॉम्पसन और गैरेट को कंजरवेटिव अंग्रेज नेताओं की आलोचनाओं का सामना करना पड़ा। दूसरी ओर कई भारतवासियों को सरकारी तौर पर निर्धारित पाठ्यपुस्तकों की अपेक्षा उनकी पाट्यपुस्तकें ज्यादा विश्वसनीय लगीं। इस पुस्तक का प्रकाशन भारत के आजाद होने के पन्द्रह साल पहले हुआ था। इससे पता चलता है कि अंग्रेजों के बीच प्रगतिशील और उदारवादी खेमों की सोच बदल रही थी। इसी बदलती मानसिकता के कारण साम्राज्यी सत्ता 1947 में सत्ता का हस्तांतरण स्वीकार करने को मजबूर हुई। जेम्स मिल से लेकर थॉम्पसन और गैरेट तक इतिहास-लेखन ने लम्बा रास्ता तय किया। उन्नीसवीं शताब्दी में इतिहास-लेखन की शुरुआत हुई जो भारत में अंग्रजी राज के अंतिम वर्षों तक चली। आरंभ में यह इतिहास-लेखन यूरोप केन्द्रित था और भारतवासियों के प्रति इनका दृष्टिकोण प्रशंसात्मक नहीं था। धीरे-धीरे एक उदारवादी और अपेक्षाकृत कम नस्लवादी या जातीयवादी दृष्टिकोण विकसित हुआ।

19.3 इतिहास-लेखन की दिशा में कुछ अन्य प्रयास

अभी तक हमने उन इतिहास ग्रंथों की चर्चा की जिन्हें पाठ्यपुस्तक के रूप में विश्वविद्यालयों में पढ़ाया जाता था और इतिहासकारों की कल्पना और उनकी समझ इससे प्रभावित भी होती थी। कुछ ऐसी भी ऐतिहासिक कृतियां लिखी गई जो पाठ्यपुस्तक तो नहीं बन सकीं परंतु इतिहास-लेखन की दृष्टि से वे भी महत्वपूर्ण हैं।

उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य दशकों में दो बड़े लेखकों ने भारत के बारे में लिखा, हालांकि भारत की चर्चा करना उनका मुख्य ध्येय नहीं था। इनमें से एक थे **लॉर्ड मैकाले**। उनकी पुस्तक एडिनबरा रिव्यू में रॉबर्ट क्लाइव जैसे ब्रिटिश इंडियन महारथियों पर लिखे लेखों का संकलन है। मैकाले के इतिहास-लेखन की शैली साहित्यिक थी जिसके कारण भारतीय इतिहास में पठनीयता का तत्व बढ़ा। हालांकि उनके लेखों में ब्रिटिश इंडिया के 'देसी' लोगों के बारे में उनकी धारणा और सूचना काफी कमजोर और बेकार थी। परंतु उनका लेखन जेम्स मिल की तरह उबाऊ और छिद्रान्वेषी नहीं था। मैकाले ने इतिहास में जीवनीपरक शैली का समावेश किया जिससे वह ज्यादा असरदार साबित हुआ। बाद में इस शैली का व्यापक पैमाने पर अनुकरण किया गया और इसके बाद वायसरायों और उनकी पसंद और उनके प्रशासन के इतिहास पर कई पुस्तकें लिखी गई।

सर हेनरी मैन ने भी इस दिशा में अलग तरह से योगदान दिया। उन्होंने भारत में गवर्नर जेनरल परिषद के विधि सदस्य के अपने छोटे से कार्यकाल में प्राचीन भारतीय संस्थाओं का अध्ययन किया। वे महान न्यायिक इतिहासकार थे। उनकी कृति *एन्सिएन्ट लॉ* (1861) और भारतीय ग्रामीण समुदाय पर लिखी उनकी पुस्तक अभूतपूर्व है। मैन ने कानून के विकास संबंधी यूरोपीय सोच को परिवर्तित किया। उन्होंने रोमन कानून की परिधि से बाहर जाकर कानून और संस्थाओं के संदर्भ में सोचना शुरू किया। हालांकि कानूनी और संस्थागत इतिहास की परम्परा, जो मैन ने शुरु की थी का पालन ब्रिटिश भारतीय विद्वानों ने न के बराबर किया। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में उसका प्रभाव यूरोपीय विद्वता की एक कृति के रूप में सीमित रहा और संभवतः इसके बाद मैक्स वेबर और अन्य लोगों द्वारा समाजशास्त्र के विकास में भी इसकी भूमिका रही।

वैधानिक इतिहास के क्षेत्र में दूसरे ब्रिटिश इंडियन लेखकों की कृतियां अलग स्तर की थीं परंतु वे मैन जैसी स्तरीय नहीं थीं। उदाहरण के लिए **सर जेम्स फिटज़ैम्स स्टिफेन,** जो

वायसराय परिषद के विधि सदस्य थे, ने वारन हेस्टिंग्स के अन्तर्गत ब्रिटिश प्रशासन के समर्थन में एक लेख लिखा। उन्होंने तक्र दिया कि एडमन्ड बर्क का यह सोचना गलत था कि न्यायाधीश एलिजा इम्पे द्वारा नन्दकुमार को दी गई सजा अन्यायपूर्ण थी। स्टिफेन की *स्टोरी ऑफ ननकुमार ऐंड द इम्पीचमेंट ऑफ सर एलिजा इम्पे* (1885) का यही विषय था। इसकी प्रतिक्रिया में आई.सी.एस. अधिकारी हेनरी बेवरिज़ ने अपनी पुस्तक नन्द कुमारः *ए नरेटिव ऑफ ए जुडिशियल मर्डर* (1886) में दी गई सजा की आलोचना करते हुए मुकदमे की आलोचना की और जज के महाभियोग के समर्थन में लिखा। इसी प्रकार आई. सी.एस. अधिकारी सर जॉन स्ट्राची ने पिछले ब्रिटिश प्रशासन का समर्थन करते हुए *हेस्टिंग्स ऐंड द रोहिला वार* (1892) नामक पुस्तक लिखी। इस प्रकार अतीत में हुई घटनाओं, वारेन हेस्टिंग्स और उसकी महाभियोग तथा ब्रिटिश प्रशासन की एडमन्ड बर्क द्वारा की गई आलोचना पर वैधानिक ऐतिहासिक बहस चली। बहस के केन्द्र में इतिहास था परंतु पर्दे के पीछे समकालीन परिदृश्य प्रभावी था। यानी अंग्रेजों द्वारा भारत पर किए गए आक्रमणों, कब्जों और उसके प्रशासन को वैध ठहराया गया जिसपर सवालिया निशाना न लगाया जा सके।

जब साम्राज्य अपनी पराकाष्ठा पर था, उस समय दो प्रख्यात लेखकों ने इतिहास-लेखन के क्षेत्र में दो परस्पर विरोधी प्रवृत्तियां विकसित कीं। इनमें से एक थे **सर विलियम विल्सन हन्टर** जो गैजेटीयर्स की कई श्रृंखलाओं के सम्पादक और ब्रिटिश भारत के इतिहास की एक नीरस कृति के लेखक थे। 1899 से उन्होंने *द रूलर्स ऑफ इंडिया* नामक ऐतिहासिक श्रृंखला कृति का संपादन शुरु किया। इन पुस्तकों में भारत में साम्राज्य निर्माताओं खासतौर पर ब्रिटिश भारतीय साम्राज्य निर्माताओं, की पुरजोर प्रशंसा की गई थी हालांकि अशोक और अकबर का नाम भी शामिल कर लिया गया था। इस पुस्तक श्रृंखला को सरकार से वित्तीय सहायता मिली और सरकारी पुस्तकालयों और पाठ्यक्रमों में इसे शामिल किया गया था। इसका उद्देश्य इतिहास को लोकप्रियता का जामा पहनाकर प्रस्तुत करना था। इसमें न केवल साम्राज्य निर्माताओं द्वारा किए गए महत्वपूर्ण कार्यों का उल्लेख किया गया था बल्कि बचपन में की गई उनके बाल सुलभ क्रीड़ाओं का भी वर्णन किया गया था। इसमें 'निर्भीक' साम्राज्य निर्माताओं को अमरत्व प्रदान करने के लिए उनकी जीवनी लिखी गई थी। भारत से सहानुभूति रखनेवाले ब्रिटिश प्रशासनिक अधिकारियों को इसमें शामिल नहीं किया गया था। यह अठारहवीं शताब्दी में जीवनी के रूप में इतिहास-लेखन की अंग्रेजी परम्परा की भोंड़ी नकल थी।

सर अल्फ्रेड ल्याल ने अपनी कृति *राइज ऐंड ऐक्सपैंशन ऑफ ब्रिटिश डोमिनियन इन इंडिया* (1894) में बिल्कुल अलग ढंग से व्याख्या की है और उनकी प्रविधि में भी अनूठापन है, हालांकि उन्होंने जिस ढंग से व्याख्या की है उससे असहमत होने की पूरी गुंजाइश है। अतीत की घटनाओं और प्रक्रियाओं को समझने के लिए एक नृशास्त्री की तरह उन्होंने समकालीन भारतीय समाज, रीति रिवाज, संस्था आदि के बारे में अपने ज्ञान और आंखों देखी का सहारा लिया है। अतएव वे पाठ्यगत प्रमाणों पर ही आश्रित नहीं रहे जिस पर उस समय के इतिहासकार काफी भरोसा करते थे। भारतीय इतिहास की व्याख्या करते समय ल्याल ने बड़े फलक पर कहानी रखी है। ग्रीक और रोमन दिनों से ही पूरब और पश्चिम के बीच के समग्र इतिहास के परिप्रेक्ष्य में भारत में अंग्रेजों की घुसपैठ को देखने का प्रयास किया। इतिहास को इतने व्यापक फलक पर रखे जाने से आर्नोल्ड ट्वायनबी की याद आती है जिन्होंने सभ्यताओं के बीच के संबंधों को वैश्विक दृष्टि और आधार पर रखकर देखने का प्रयास किया था। इसलिए आर्नोल्ड ट्वायनबी की तरह अल्फ्रेड ल्याल का दृष्टिकोण उन्नीसवीं शताब्दी के अधिकांश ब्रिटिश भारतीय इतिहासकारों से अलग था। ल्याल का सैद्धांतिक पक्ष भी मौलिक था जिसके अनुसार भारत और यूरोप के विकास की गति समान थी परंतु भारत का विकास एक खास मौके पर जाकर रूक गया। सर हेनरी मैन का भी यही मानना था, जिन्होंने लिखा

था कि भारतीय समाज में "हमारी अपनी सभ्यता के कई तत्व मौजूद हैं जो अभी तक सामने नहीं आ पाए हैं।" यूरोप में यह धारणा प्रचलित थी कि भारत एक "ठहरी हुई सभ्यता" है परंतु भारत में इससे कोई सहमत नहीं था। राष्ट्रीयता से ओत-प्रोत बुद्धिजीवियों ने इस मत को खारिज कर दिया कि भारत यूरोप का एक पिछड़ा संस्करण है; उनका मानना था कि भारत अपने सामाजिक संगठन और राज्य व्यवस्थाओं में यूरोप से बिलकुल अलग है और इसलिए भारत को यूरोप की नकल करने के लिए बाध्य करने की अपेक्षा एक अलग ऐतिहासिक नियति का मार्ग चुनने की मंजूरी मिलनी चाहिए। यह ठीक है कि कई मामलों में ल्याल की व्याख्या करने के ढांचे पर सवालिया निशान लगाए जा सकते हैं परंतु महत्वपूर्ण बात यह है कि उन्होंने भारत को एक सभ्यता के रूप में देखने का प्रयास किया।

बीसवीं शताब्दी के पहले दो या तीन दशकों में इतिहास-लेखन की दिशा में नई प्रवृत्ति विकसित हुई और आर्थिक विकास की दिशा में नई खोजें की गईं। इसके पहले भी कई ब्रिटिश पदाधिकारियों ने आर्थिक दस्तावेजों की जांच की थी और कृषि संबंधों तथा कृषि इतिहास के संबंध में कुछ सामान्य निष्कर्ष प्रस्तुत किए थे। जिलाधिकारी या समाहर्ता के रूप में लगान के बंदोबस्त यानी कृषीय आय पर कर का निर्धारण करते समय, ताकि सरकार द्वारा लगान वसूला जा सके, उन्होंने ये दस्तावेज जुटाए थे। बाद के आर्थिक इतिहासकारों ने इन्हीं दस्तावेजों और आंकड़ों को आकलन का आधार बनाया। इन पदाधिकारियों में से कुछ इतिहासकार के रूप में भी उभरे। इसमें **डब्ल्यू. एच. मोरलैन्ड** का नाम प्रमुख है जिन्होंने 1920 में प्रकाशित अपनी पुस्तक *इंडिया ऐट द डेथ ऑफ अकबर* में भारत की तत्कालीन आर्थिक स्थिति का परीक्षण किया था। इसके बाद उन्होंने *अकबर टू औरंगजेब* (1923) और *एग्रेरियन सिस्टम ऑफ मुगल इंडिया* (1929) में भारत का आर्थिक इतिहास प्रस्तुत किया। काफी हद तक मोरलैन्ड का दृष्टिकोण इस पूर्वाग्रह से ग्रस्त था कि मध्यकाल की अपेक्षा ब्रिटिश काल में भारत की आर्थिक स्थिति अच्छी थी। उन्होंने अपनी कृतियों तथा बीसवीं शताब्दी में अर्थव्यवस्था पर लिखी पुस्तक में अपने इस मताग्रह को सिद्ध करने का प्रयास किया। इसके अलावा भारतीय आर्थिक राष्ट्रवादियों द्वारा ब्रिटिश आर्थिक प्रभाव की आलोचना का जवाब भी वे ठीक से नहीं दे पाए। उनके एक कनिष्ठ समकालीन **वेरा ऐनस्टी** ने भी उनका अनुकरण किया। वे लंदन विश्वविद्यालय में पढ़ाती थीं और उन्होंने *द इकोनोमिक डेवेल्पमेंट ऑफ इंडिया* (1929) नामक एक पाठ्यपुस्तक लिखी परंतु उनकी कृति में मोरलैंड की ऐतिहासिक पैठ की कमी थी। आर्थिक इतिहास का एक नया अनुशासन स्थापित करने का एक मजबूत आधार मोरलैंड ने प्रदान किया। यह उनका महत्वपूर्ण योगदान था। परंतु सामान्यतः उपनिवेशवादी इतिहासकारों ने आर्थिक और सामाजिक इतिहास की उपेक्षा ही की। *कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इंडिया* (1929) में जो ब्रिटिश भारत पर लिखे गए ब्रिटिश इतिहासकारों के लेखन का संग्रह है तथा पी. ई. रोबर्ट्स की पाठ्यपुस्तक *हिस्ट्री ऑफ ब्रिटिश इंडिया* (1907 के बाद पुनः मुद्रित) इसके प्रमाण हैं। इन कृतियों में भारतीय आर्थिक और सामाजिक दशा की कोई चर्चा नहीं की गई है और न ही भारत के लोग इसमें कहीं नजर आते हैं। यह इतिहास भारत में अंग्रेज सैनिकों और प्रशासनिक अधिकारियों के योगदान का लेखा जोखा है।

19.4 इतिहास-लेखन में उपनिवेशवादी सिद्धांत

अंग्रेजों द्वारा लिखे गए सारे ऐतिहासिक लेखन को उपनिवेशवादिता की एक ही टोकरी में डालना गलत होगा क्योंकि उन्नीसवीं शताब्दी और बीसवीं शताब्दी के आरंभ में उपनिवेशवादी स्कूल के भीतर विभिन्न दृष्टिकोण और व्याख्यात्मक ढांचे विकसित हुए थे। हालांकि अभी तक हमने जिन कृतियों का सर्वेक्षण किया है उनमें से अधिकांश रचनाओं में कुछ विशेषताएं सामान्य हैं। यह सरलीकरण प्रतीत हो सकता है परंतु इसके जरिए इन विशिष्टताओं को संक्षेप में प्रस्तुत करना संभव हो सकेगा:

- आधुनिक पश्चिमी सभ्यता को श्रेष्ठ बताते हुए भारत का 'प्राच्यवादी' प्रतिनिधित्व आम बात थी; एडवर्ड सईद और अन्य लोगों ने हाल में ही इस विषय को उठाया है परंतु भारतीय राष्ट्रवादी बुद्धिजीवी वर्ग ने इसे काफी पहले समझ लिया था और जेम्स मिल के समय से बाद होनेवाले ब्रिटिश लेखन में उभरी इस प्रवृत्ति की आलोचना की थी।

- ऐतिहासिक आख्यानों में आमतौर पर यह बात जोर देकर कही जाती रही कि अंग्रेजों के आने से पहले भारत खंड-खंड में विभाजित था; इसके साथ ही यह अभिधारणा भी विकसित की गई कि अंग्रजों के आने से पहले भारत अव्यवस्था और बर्बरता के अंधेरे में डूबा हुआ था और भारत में अठारहवीं शताब्दी एक 'अंधेरी शताब्दी थी'

- उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में कई ब्रिटिश इतिहासकारों ने भारत के बारे में सामाजिक डार्विनवादी अवधारणा विकसित की। इसके अनुसार इतिहास विभिन्न लोगों और संस्कृतियों के बीच होनेवाले संघर्ष की गाथा है जिसमें विभिन्न प्रजातियां आपस में लड़ती हैं और शक्तिशाली की जीत होती है। वही शासन करता है जिसमें शासन करने की बेहतर क्षमता होती है और चूंकि ब्रिटेन शिखर पर है और वह औरों से उच्चतर है और शासन के लिए सर्वाधिक सक्षम है।

- अनेक अंग्रेज विद्वानों का यह मानना था कि भारत एक ठहरा हुआ समाज था और इसका विकास अवरूद्ध हो चुका था। इसलिए अंग्रेजी शासन द्वारा दिखाए गए प्रगति के पथ पर चलकर ही यह उन्नति कर सकेगा। भारत को 'पैक्स ब्रिटानिका' की राह पकड़नी होगी यानी इंगलैंड की पूरी नकल करनी होगी।

- ऐतिहासिक आख्यानों में 'भारत के अंग्रेज शासकों' और साम्राज्य निर्माताओं की वीरता, नायकत्व और महानता को किंवदंती के रूप में प्रस्तुत किया गया जिसकी साम्राज्यवाद के सुर ताल से संगति बैठती थी। एरिक स्टोक्स के अनुसार भारत के बारे में अंग्रेजों ने जो कुछ लिखा उसमें नायक के रूप में सिर्फ अंग्रेज हैं जबकि पूरा देश और इस देश की जनता को हाशिए पर ठेल दिया गया।

- स्वाभाविक तौर पर उपनिवेशवादी इतिहास-लेखन में भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन की आलोचना की गई है क्योंकि यह मान लिया गया था कि यह भारत में अंग्रेजों द्वारा किए गए अच्छे कार्यो को मिट्टी में मिला देगा। जैसे-जैसे यह आंदोलन तेज होता गया वैसे-वैसे दृष्टिकोण जटिल होता चला गया। कुछ इतिहासकार सीधे-सीधे टक्कर की मुद्रा में आ गए जबकि कुछ ने महीनी से काम किया और भारतीय राष्ट्रवाद मे खामियां निकालने लगे। सामान्य रूप से उपनिवेशवादी इतिहासकारों के विमर्श में यह कुछ सामान्य विशेषताएं और दृष्टिकोण देखने को मिलते हैं परंतु इस बात को नजरअंदाज नहीं किया जा सकता कि बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में इतिहास-लेखन की परम्परा ने इन लक्षणों पर कुछ हद तक विजय पा ली थी या कम से कम ज्यादा परिष्कृत हो गई थी।

निष्कर्ष के रूप में यह कहा जा सकता है कि उपनिवेशवादी इतिहास-लेखन भारत पर ब्रिटिश शासन को वैध ठहराने और सांस्कृतिक वर्चस्व स्थापित करने के लिए इतिहास को एक साधन के रूप में इस्तेमाल करने के सैद्धांतिक प्रयास का एक हिस्सा था।

उपनिवेशवादी इतिहास-लेखन की परम्परा में एक आधारभूत विचार यह गुंथा हुआ था कि भारत जैसा पिछड़ा समाज साम्राज्यी छत्रछाया में आधुनिक यूरोपीय और नागरिक समाज की तर्ज पर प्रगति कर सकता है। ऐसा अंग्रेज प्रशासकों के निर्देशन में ही संभव है। शिक्षा धीरे-धीरे समाज के निचले तबकों में भी रिसेगी। भारतीयों को अंग्रेजों द्वारा बनाई संस्था और कानून का पालन करना चाहिए और राष्ट्रवाद द्वारा फैलाई जा रही गड़बड़ियों का विरोध करते हुए ब्रिटेन के प्रति पूरी तरह निष्ठावान होना चाहिए। ऐसा न होने से भारत की प्रगति धीमी रहेगी। इसे कई बार 'ब्रिटेन के सिविलाइजेशन मिशन' के रूप में पेश किया गया।

सवाल यह है कि इस इतिहास-लेखन में उपनिवेशवादी स्कूल के बौद्धिक तन्तु क्या थे? बेंथमवादी या उपयोगितावादी राजनीतिक दर्शन के अनुसार ब्रिटेन की भूमिका एक ऐसे अभिभावक की होनी चाहिए जिसके संरक्षण में एक पिछड़े हुए शिष्य की परवरिश होती रहे। यह कहा जा सकता है कि जेरेमी बेंथम यूरोपीय या गैर-यूरापीय सभी लोगों को इसी दृष्टि से देखा करता था। आंशिक रूप से यह बात सही भी है। परंतु इस दृष्टिकोण को भारत जैसे उपनिवेश में स्पष्ट अभिव्यक्ति मिली थी और इसकी कार्रवाई भी साफ नजर आ रही थी। जैसा कि पहले बताया जा चुका है सामाजिक डार्विनवाद उपनिवेशवादी इतिहासकारों की प्रेरणा का एक अन्य स्रोत था। इससे इस धारणा को वैज्ञानिक आधार प्राप्त करने का एहसास कराया गया कि भारत के लोग उनसे काफी नीचे हैं। उनके लिए यह भी कहना संभव हुआ कि वे एक ठहरी हुई सभ्यता के शिकार हैं और डार्विनवाद के नियतिवाद का यह अवश्यंभावी परिणाम है और इसका कुछ नहीं किया जा सकता। हरबर्ट स्पेन्सर का भी इन लेखकों पर प्रभाव पड़ा। उसने यूरोपीय उत्कर्ष की एक विकासात्मक योजना प्रस्तुत की और अपनी तुलनात्मक प्रविधि के जरिए उसने उच्च यूरोपीय स्तर का मानदंड स्थापित करते हुए विभिन्न देशों और संस्कृतियों के विकास में अन्तर स्पष्ट किया। यूरोपीयों के बीच यह एक आम धारणा था कि गैर-यूरोपीय समाज इसी विकास पथ पर चलेंगे और इसमें यूरोपीय साम्राज्यी शक्तियों की मदद की भी जरूरत पड़ेगी। यह केवल ब्रिटिश भारतीय इतिहासकारों की ही सोच नहीं थी। जब मध्य-विक्टोरियन साम्राज्यवाद अपने उत्कर्ष पर था तो उस समय अंग्रेजों ने खुलकर ये विचार व्यक्त किए। बाद में ये विचार छिपे रूप में व्यक्त किए जाने लगे। 1870 के दशक में फिटज़ेम्स स्टीफेन ने 'जंगलीपन' और बर्बरता' बनाम ब्रिटिश 'युद्धकारी' सभ्यता की चर्चा की। 1920 के दशक में डेविड डॉडवेल की आवाज थोड़ी मंद हो गई थी और उनका स्वर लगभग निराशा भरा था जब उन्होंने कहा कि भारत में अंग्रेज एक अविराम प्रयास में लगे थे जिसमें 'मानवता के विशाल जनसमूह' को उच्च स्तर पर उठाना था और बार-बार यह जनसमूह 'अपने पुराने रूप में लौट जाता था वैसे ही जैसे एक पत्थर को सरियों की मदद से आप हटाना चाहते हों और वह अपने स्थान पर वापस लुढ़क जाता हो।' (डॉडवेल, ए स्केच ऑफ द हिस्ट्री ऑफ इंडिया, 1858-1918)।

19.5 औपनिवेशिक भारत में ऐतिहासिक लेखन का प्रभाव

अभी हमने जिन स्कूलों और विशिष्टताओं की चर्चा की वह उपनिवेशवादी स्कूल के ऐतिहासिक सोच की प्रमुख प्रवृत्ति थी। परंतु एक ही लाठी से सबको हांकना उचित नहीं होगा। जैसा कि आप सब जानते हैं कि ब्रिटिश भारत सरकार के कुछ अंग्रेज अधिकारी जैसे थॉमस मुनरो और चार्ल्स ट्रवेलियन को भारतीय जनता के प्रति सहानुभूति थी हालांकि वे भी विदेशी और शासक सत्ता के अंग थे। कुछ ब्रिटिश अधिकारी और मिशनरी (मसलन रेनेसां इन इंडिया, 1925 के लेखक सी एफ एन्ड्रूज) और भारतीय सिविल सेवा और बाद में इंगलैंड में लेबर पार्टी के सदस्य गैरेट तथा भारतीय पुलिस सेवा के जॉर्ज आरवेल साम्राज्य के कटु आलोचक थे। कई इतिहासकारों ने भी साम्राज्य की आलोचना की परंतु ब्रिटिश राज के पदाधिकारियों की सामान्य सोच में कुछ व्यक्तियों की सोच ऊंट के मुंह में जीरा के समान थी। साम्राज्यी शक्ति को मजबूत बनानेवाले विचारों को सरकार का समर्थन और सहायता मिलती थी और औपचारिक या अनौपचारिक रूप में इसके विपरीत खड़े व्यक्ति को अपने साथी और समूह की आलोचना सहनी पड़ती थी। हमने उपनिवेशवादी इतिहास-लेखन की आधारभूत विशेषताओं की चर्चा की है परंतु यह जरूरी नहीं की यह हर इतिहासकार पर लागू हो। इतिहास-लेखन के क्रम में इस प्रकार की योग्यता महत्वपूर्ण है क्योंकि यहीं एक इतिहास के विद्यार्थी को सामान्यीकरण की सीमा का निर्धारण करते हुए खुद फैसला करना पड़ता है।

गौरतलब है कि ब्रिटिश भारत में इतिहास-लेखन में उपनिवेशवादी स्कूल के वर्चस्व के बावजूद भारत के आरंभिक ब्रिटिश इतिहासकारों के कुछ सकारात्मक योगदान भी थे। इसमें कोई

संदेह नहीं कि उपनिवेशवादी इतिहासकारों ने आधुनिक यूरोप में विकसित इतिहास-लेखन की प्रवृत्ति के आधार पर भारत में इतिहास-लेखन की परम्परा की शुरुआत की। इसके अलावा एशियाटिक सोसाइटी ऐंड आर्केलॉजिकल सर्वे ऑफ इंडिया जैसी संस्थाओं का निर्माण कर भारतीय इतिहासकारों को एक नया रास्ता दिखाया और शैक्षिक अनुसंधान का मार्ग प्रशस्त किया। जातीय और राज्यवादी पूर्वाग्रह के बावजूद ब्रिटिश उपनिवेशवादी इतिहासकारों द्वारा एकत्रित किए गए आंकड़े और दस्तावेजों को संग्रहीत करने का प्रचलन एक प्रमुख स्रोत के रूप में इकट्ठा होता चला गया। इनमें सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि कलकत्ता ,बंबई, मद्रास (1857-1858) में तीन विश्वविद्यालयों की स्थापना से इतिहास का अध्ययन शुरु हुआ। इसका दूरगामी प्रभाव पड़ा।

औपनिवेशिक युग में जो इतिहास पढ़ाया गया उसमें साम्राज्यी पूर्वाग्रह स्पष्ट था। औपनिवेषिक इतिहास-लेखन से जुड़ी स्कूल के अनुसार पाठ्य पुस्तकें लिखी गईं। इसके बावजूद इसके कुछ सकारात्मक परिणाम भी सामने आए। पहला यह कि जेम्स मिल या एलफिन्स्टन के भारत के इतिहास के साथ-साथ भारतीय विद्यार्थियों ने यूरोप और इंगलैंड का इतिहास भी पढ़ा और इस प्रकार शिक्षित भारतीयों के दिमाग में स्वतंत्र और आजादी तथा प्रजातंत्र और समता जैसे विचारों का बीजारोपण हुआ जिसका जिक्र यूरोपीय इतिहास में हुआ था। मैगना कार्टा, ग्लोरियस रिवॉल्यूशन, अमेरिकी आजादी की लड़ाई, मेजनी और गैरिबाल्डी के संघर्ष आदि प्रमाण के रूप में उपस्थित थे। भारत में राष्ट्रवाद के विकास के आरंभिक उदारवाद के चरण से परिचित विद्यार्थी को यह बात भलिभांति समझ में आ जाएगी कि इतिहास के इन पन्नों से गुजरते हुए किस प्रकार के विचार ग्रहण किए गए होंगे। दूसरा परिणाम यह हुआ कि पूरी तरह से प्रवीण और प्रशिक्षित भारतीय इतिहासकार इतिहास लिखने लगे। आधुनिक तर्ज पर दस्तावेजी अनुसंधान के आधार पर इतिहास-लेखन और विद्वतापूर्ण कार्य पर पेशेवर ब्रिटिश इतिहासकारों का ही एकाधिकार नहीं रह गया। पेशेवर रूप से प्रशिक्षित भारतीय अनुसंधान करने लगे। इसकी शुरुआत एशियाटिक सोसाइटी जैसे विद्वत संगठनों से और बाद में कॉलेज और विश्वविद्यालयों और सरकारी शिक्षा सेवाओं, खासतौर पर भारतीय शिक्षा सेवा में उनके प्रवेश से होने लगी।

तीसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि भारतीय विद्यार्थियों को उन्नीसवीं शताब्दी के ब्रिटिश पदाधिकारी इतिहासकारों की लिखी पुस्तकें पढ़नी पड़ी; इससे उनमें इस तरह के इतिहास-लेखन के प्रति एक आलोचनात्मक प्रतिक्रिया पैदा हुई। भारतीय विश्वविद्यालय के पहले स्नातक बंकिम चंद्र चटर्जी ने लगातार ब्रिटिश व्याख्या की मुखालफत की और यह सवाल उठाया कि हम अपना इतिहास कब लिखेंगे? रवीन्द्रनाथ टैगोर ने यह बात और भी स्पष्टता से कही। उन्होंने लिखा है कि दूसरे देशो में इतिहास अपने देश की जनता को अपने देश के बारे में बताता है जबकि भारत का इतिहास अंग्रेज लिख रहे हैं और हम उनकी दृष्टि से भारत को देख रहे हैं। अपने इतिहास में हम भारत माता को नहीं देख रहे हैं। भारत में बुद्धिजीवियों की यह प्रतिक्रिया स्वाभाविक थी और इसके फलस्वरूप कुछ महत्वपूर्ण राष्ट्रवादियों ने भारत का नया इतिहास लिखा। इस प्रकार भारतीय इतिहास की राष्ट्रवादी व्याख्या सामने आई और ब्रिटिश इतिहास-लेखन का वर्चस्व समाप्त हुआ। इतिहास-लेखन राष्ट्रीय अस्मिता की चेतना के निर्माण का एक प्रमुख साधन बना। इस खंड की अगली इकाई में इतिहास-लेखन की राष्ट्रवादी स्कूल का सर्वेक्षण किया गया है।

19.6 सारांश

'उपनिवेशवादी इतिहास-लेखन' पद का इस्तेमाल दो अर्थों में किया गया है। एक का संबंध औपनिवेषिक देशों के इतिहास से और दूसरे का संबंध उपनिवेशवादी स्कूल से प्रभावित कृतियों से है। उपनिवेशवादी इतिहास-लेखन पर आज ज्यादातर इतिहासकार इसी दूसरे अर्थ में

विचार करते हैं। वस्तुतः औपनिवेशिक पदाधिकारियों द्वारा औपनिवेशिक देशों के बारे में किए गए लेखन का संबंध औपनिवेशिक शासन के वर्चस्व और वैधता को स्थापित करने की आकांक्षा से सम्बद्ध है। अतएव इन अधिकांश ऐतिहासिक ग्रंथों में भारतीय समाज और संस्कृति की आलोचना की गई है। दूसरी ओर पश्चिमी संस्कृति और मूल्यों की प्रशंसा करते हुए भारत में इस साम्राज्य की स्थापना में योगदान देनेवाले व्यक्तियों का महिमा मंडन किया गया है। जेम्स मिल, माउन्टस्टुअर्ट एलफिन्स्टन, विन्सेंट स्मिथ और कई अन्य महत्वपूर्ण व्यक्तियों ने भारत का इतिहास लिखा जो इस प्रवृत्ति का ज्वलंत उदाहरण है। उन्होंने उपनिवेशवादी इतिहास-लेखन की स्कूल स्थापित की जिन्होंने साम्राज्यवादी देश की प्रशंसा की और देशी जनता को नीची दृष्टि से देखा। इस प्रकार के लेखन में भारत को एक अवरूद्ध समाज के रूप में देखा गया और ब्रिटेन की तुलना में पिछड़ी सभ्यता और संस्कृति के रूप में चित्रित किया गया। बताया गया कि ब्रिटेन की सभ्यता भारत की तुलना में काफी उन्नत है और विज्ञान और प्रौद्योगिकी में तो भारत कहीं ठहरता ही नहीं।

19.7 अभ्यास

1) उपनिवेशवादी इतिहास-लेखन क्या है ? उपनिवेशवादी इतिहास-लेखन से जुड़े इतिहासकारों की की कुछ प्रमुख कृतियों की चर्चा कीजिए।

2) क्या आप समझते हैं कि औपनिवेशिक भारत के बारे में लिखनेवाले इतिहासकारों की सभी कृतियां इतिहास-लेखन की उपनिवेशवादी स्कूल को प्रतिनिधित्व करती हैं? सोदाहरण उत्तर दीजिए।

3) उपनिवेशवादी इतिहास-लेखन में मौजूद उपनिवेशवादी स्कूल के प्रमुख तत्वों की चर्चा कीजिए।

इकाई 20 राष्ट्रवादी इतिहास-लेखन

इकाई की रूपरेखा

20.1 प्रस्तावना

यहां एक अत्यन्त जटिल समस्या को सरल ढंग से समझाने का प्रयास किया जा रहा है क्योंकि इतिहास-लेखन इतिहास, व्यक्ति, घटना और बौद्धिक इतिहास - इन सबसे जुड़ा हुआ है। यहां एक बात ध्यान में रखनी चाहिए कि किसी इतिहास के ऐतिहासिक दृष्टिकोण पर चर्चा करते समय उसकी गंभीरता और ईमानदारी पर सवाल कम ही उठाए जाते हैं। बड़ा इतिहासकार जानबूझकर किसी विशिष्ट हित की पूर्ति करने के लिए लेखन नहीं करता। हालांकि यह बात सही है कि किसी इतिहासकार की कृति से एक वर्ग, जाति या सामाजिक या राजनीतिक समूह की सोच प्रतिबिंबित हो परंतु वह मूलतः बौद्धिक निष्ठा या किन्हीं विचारों या स्कूलओं से प्रभावित होकर लिखता है। इसीलिए कभी-कभी इतिहासकार वर्ग, जाति, नस्ल, समुदाय या राष्ट्र (जिसमें उसका जन्म हुआ हो) की सीमाओं का अतिक्रमण करता है।

इस प्रकार किसी इतिहासकार के भारतीय इतिहास के प्रति विशिष्ट दृष्टिकोण – मसलन, उपनिवेशवादी, राष्ट्रवादी, या सम्प्रदायवादी दृष्टिकोण – के परस्पर ठोस संबंध का विकास उसके इरादे के विश्लेषण या खोज से नहीं होता बल्कि उसकी बौद्धिक सोच और उपनिवेशवादियों, राष्ट्रवादियों और सम्प्रदायवादियों के ठोस व्यवहार के आपसी संवाद को देखने से होता है। आमतौर पर कोई इतिहासकार – या फिर बुद्धिजीवी – समकालीन राजनीति और विचारधाराओं से प्रभावित होता है।

निश्चित रूप से बौद्धिक इतिहास का अध्ययन करना बहुत महत्वपूर्ण है कि कैसे और क्यों कुछ विचार, दृष्टिकोण और विचारधारायें चुनी जाती हैं, लोकप्रिय होती हैं और उन पर बहस की जाती है, यानी लोग पक्ष और विपक्ष में खड़े हो जाते हैं। कभी कोई विचारधारा प्रभावशाली हो जाती है तो कभी कोई। कभी एक परिवेश में उदित विचार दूसरे परिवेश द्वारा ग्रहण कर लिया जाता है।

20.2 उपनिवेशवादी बनाम राष्ट्रवादी इतिहास-लेखन

भारतीय इतिहास के प्रति राष्ट्रवादी भावना को उभारने और धर्म, जाति, भाषाई या वर्गीय विभेद से ऊपर उठाकर लोगों को जोड़ने में राष्ट्रवादी इतिहास-लेखन की अहम भूमिका रही है। जैसा कि पहले बताया जा चुका है यह हमेशा लेखक द्वारा सचेत रूप से नहीं किया जाता है।

आरंभ में उन्नीसवीं शताब्दी में भारतीय इतिहासकारों ने उपनिवेशवादी इतिहास-लेखन का अनुकरण किया और इस बात पर बल दिया कि इतिहास वैज्ञानिक तरीके से खोजे गए तथ्यों

पर आधारित होता है और इसमें राजनैतिक इतिहास और खासतौर पर शासकों के इतिहास पर बल दिया गया। अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध और उन्नीसवीं शताब्दी के आरंभ में भारत का इतिहास लिखनेवाले उपनिवेशवादी लेखकों और इतिहासकारों ने एक तरह से अखिल भारतीय इतिहास लिख डाला वैसे ही जैसे वे अखिल भारतीय साम्राज्य का निर्माण कर रहे थे। इसके बाद जैसे ही औपनिवेशिक शासकों ने फूट डालो और शासन करो की नीति अपनाई वैसे ही औपनिवेशिक इतिहासकारों ने भारतीय इतिहास-लेखन में क्षेत्र और धर्म के आधार पर भारतवासियों के विभाजन पर जोर दिया। राष्ट्रवादी इतिहासकारों ने भी सम्पूर्ण भारत का या विभिन्न क्षेत्रों के शासकों का अलग-अलग इतिहास लिखा जिसमें धर्म, जाति और भाषाई जुड़ाव पर बल दिया गया। परंतु उपनिवेशवादी इतिहासकारों ने जिस प्रकार का निषेधात्मक आख्यान प्रस्तुत किया तथा भारत के राजनीतिक तथा सामाजिक विकास का निषेधात्मक परिदृश्य प्रस्तुत किया और उपनिवेशवाद को जायज ठहराने के लिए तर्क ढूंढे वहीं इसकी भारतीय इतिहासकारों द्वारा राष्ट्रवादी प्रतिक्रिया हुई। प्राचीन भारतीय इतिहास पर जेम्स मिल की पुस्तक और मध्यकालीन भारत में इलियट और डावसन की पुस्तक आधारभूत ग्रंथ थे। भारतीय राष्ट्रवादी इतिहासकारों ने उपनिवेशवादी ढांचे का विरोध करने के लिए अपना एक ढांचा निर्मित किया। जिस प्रकार भारतीय राष्ट्रवादी आंदोलन उपनिवेशवाद का विरोध कर रहा था उसी प्रकार उपनिवेशवादी इतिहास-लेखन के जवाब और प्रतिक्रिया में राष्ट्रवादी इतिहास-लेखन विकसित हुआ और इस प्रकार भारतीय जनता और उनके ऐतिहासिक दस्तावेजों को गलत रूप में पेश करने के उपनिवेशवादी तरीकों का विरोध करने और एक राष्ट्रीय आत्म सम्मान प्राप्त करने के लिए इस प्रकार के प्रयास किए गए।

उदाहरण के लिए कई उपनिवेशवादी लेखक और प्रशासक इस बात पर बल देते थे और कहते थे कि इतिहास इस बात का साक्षी है कि भारत की जनता अपना शासन चलाने और लोकतंत्र के योग्य नहीं है। उनका यह भी कहना था कि राष्ट्रीय एकता और राष्ट्रीय निर्माण या आधुनिक आर्थिक विकास और यहां तक कि बाहरी आक्रमणकारियों का सामना करने में भी वे सक्षम नहीं रहे हैं। औपनिवेशिक शासन उन्हें अपने पैरों पर खड़ा होने के लायक बनाने में प्रयत्नशील है। इसके अलावा उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में इस बात पर जरूरत से ज्यादा बल दिया गया कि भारत का आधुनिक तर्ज पर विकास करने के लिए औपनिवेशिक शासन और औपनिवेशिक प्रशासन की मौजूदगी जरूरी है। एक ओर जहां उपयोगितावादियों और मिशनरियों ने भारतीय संस्कृति की निन्दा की, वहीं दूसरी ओर प्राच्यवादियों ने भारत को दार्शनिकों और संन्यासियों का देश कहकर प्रशंसा की। हालांकि यह कहकर भारत की प्रशंसा की गई थी परंतु इसमें यह अन्तर्निहित था कि भारतीयों में ऐतिहासिक दृष्टि से राजनीतिक, प्रशासनिक और आर्थिक दृष्टि और क्षमता का अभाव है। इसलिए भारतवासियों को अपने आध्यात्मिकता का विकास करना चाहिए और पूरी दुनिया को अध्यात्म सिखाना चाहिए जबकि अंग्रेज भारत के राजनीतिक, प्रशासनिक, आर्थिक मामलों और बाहर से होनेवाले आक्रमणों से उसकी सुरक्षा करेंगे क्योंकि जब-जब भारत पर भारतीय शासकों का शासन रहा है तब-तब विदेशियों ने आक्रमण किया है। वस्तुतः विदेशी शासन के अभाव में भारत राजनीतिक और प्रशासनिक अव्यवस्था में डूबा रहा है। उदाहरण के लिए अंग्रेजों ने अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी में भारत को अव्यवस्था के इस दलदल से बाहर निकाला। उपनिवेशवादी लेखकों और प्रशासकों का यह भी मानना था कि अपने धार्मिक और सामाजिक संगठनों के कारण भारतवासियों में नैतिकता भी नहीं थी। (इस प्रकार का दृष्टिकोण इसलिए विकसित हुआ क्योंकि ब्रिटिश प्रशासन रसोइयों, खानसामों और अन्य दूसरे प्रकार के नौकरों के जरिए भारतवासियों के सीधे सम्पर्क में आए जो साहबों की खिदमतदारी किया करते थे)। कुछ यूरोपीय लेखकों ने भारतीय अध्यात्म की प्रशंसा की क्योंकि उनके अपने देशों में उभरते उद्योगवाद और वाणिज्यवाद के प्रति उनके मन में एक आक्रोश था।

कई औपनिवेशिक इतिहासकारों का यह भी मानना था कि पूरब के अन्य देशों की तरह तानाशाहों और बादशाहों द्वारा शासन किया जाना भारत की नियति और आदत रही है।

इसलिए भारत में ब्रिटिश राज को भी निरंकुश और तानाशाह होना पड़ा है। इस दृष्टिकोण को प्राच्य निरंकुशता के सिद्धांत के रूप में जाना जाता है। इसके अलावा इन लेखकों ने यह भी कहा कि भारत में जन कल्याणकारी राज्य जैसी कोई संकल्पना नहीं थी। वस्तुतः भारत की परम्परागत राजनीतिक शासन व्यवस्था भयानक रूप से दमनकारी थी। इसके उलट तानाशाही होने के बावजूद अंग्रेज जनकल्याण के प्रति संवदेनशील और उदार हैं। अतीत के क्रूर प्राच्यवादी निरंकुशता के बिलकुल विपरीत अंग्रेज राज तानाशाह होने के बावजूद लोक कल्याणकारी है।

औपनिवेशिक लेखकों ने भारतवासियों के बारे में यह भी कहा कि उनमें यूरोपीय लोगों जैसे राष्ट्रवाद की कोई भावना नहीं थी इसलिए कोई राष्ट्रीय एकता भी नहीं थी। भारतवासी हमेशा विभाजित रहे। एक ओर जहां यूरोप में प्राचीन यूनान और रोम के समय से ही लोकतांत्रिक विरासत की परम्परा चली आ रही है वहीं प्राच्य या पूर्व में लोग तानाशाही शासन के आदी थे।

भारतवासियों में नव-प्रवर्तन और सर्जनात्मकता का भी अभाव था इसीलिए विभिन्न संस्थाएं, रीति-रिवाज, परम्परा, कला और शिल्प आदि अधिकांश अच्छी चीजें बाहर से ही आई थीं। मसलन, औपनिवेशिक शासन स्थापित होने के बाद भारत में कानून और व्यवस्था लागू हुई। इसके अलावा कानून के समक्ष समानता, आर्थिक विकास और सामाजिक समता पर आधारित समाज का आधुनिकीकरण हुआ। इस प्रकार की उपनिवेशवादी धारणाओं से न केवल भारतीय इतिहासकारों और अन्य बुद्धिजीवियों का सम्मान आहत हुआ बल्कि इससे यह भी बात सामने आई कि भारतीय बुद्धिजीवियों द्वारा स्वाशासन, लोकतंत्र, संवैधानिक सुधार आदि जैसी मांगें पूरी नहीं की जा सकतीं क्योंकि भारतीय इतिहास में इसका कोई उदाहरण नहीं मिलता। असल में, भारत में कभी लोकतंत्र था ही नहीं इसलिए वे इसके लायक नहीं हैं।

20.3 प्राचीन और मध्यकालीन युग का राष्ट्रवादी इतिहास

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से राष्ट्रवाद से प्रभावित कई भारतीय इतिहासकारों और कुछ यूरोपीयों ने भी उपनिवेशवादी इतिहास-लेखन को चुनौती के रूप में स्वीकार करते हुए उसका परीक्षण आरंभ किया। उन्होंने इसके लिए विस्तृत और सूक्ष्म अनुसंधान किए जिसके फलस्वरूप तथ्यों और विवरणों की सार्थकता बढ़ी और भारतीय इतिहास-लेखन में मौलिक और प्रारंभिक स्रोत के उपयोग का चलन बढ़ा।

भारतीय इतिहासकारों ने मौजूदा ऐतिहासिक स्रोतों के साथ-साथ खोजे गए नए स्रोतों के हवाले से उपनिवेशवादी ऐतिहासिक विवरणों का विश्लेषण कर यह सिद्ध किया कि उसमें लिखी सारी बातें झूठी हैं। निश्चित रूप से राष्ट्रीय सम्मान को जो धक्का पहुंचाया गया था उससे वे विह्वल थे। दशकों तक वे प्राचीन और मध्य काल पर काम करते रहे। दो कारणों से इतिहासकारों ने आधुनिक काल पर कलम नहीं उठाई हालांकि अर्थशास्त्रियों ने इस पर लिखा : क) उनमें से अधिकांश लेखक सरकारी या सरकार नियंत्रित स्कूलों और कॉलेजों में काम कर रहे थे और उनके मन में यह भय था कि औपनिवेशिक शासन की आलोचना करने पर उन्हें अपनी नौकरी से हाथ धोना पड़ सकता है, ख) उन्होंने समकालीन ब्रिटिश ऐतिहासिक दृष्टिकोण को स्वीकार कर लिया था कि वैज्ञानिक इतिहास समकालीन युग पर विचार नहीं करता।

भारतीय इतिहासकारों ने उस उपनिवेशवादी धारणा को सम्मान और गर्व से ग्रहण किया था जिसमें यह कहा गया था कि भारत एक आध्यात्मिक देश है और पश्चिम की दुनिया से इस लिहाज से महान और श्रेष्ठ है तथा पश्चिमी सभ्यता के भौतिकवाद की तुलना में भारत का नैतिक मूल्य बहुत विराट है (विडंबना यह थी कि महाजनी और छोटे व्यापारियों से बना

मध्य वर्ग जो स्वयं भौतिक वस्तुओं के पीछे अंधाधुंध दौड़ रहा था इस स्थापना में ज्यादा विश्वास करता था। इसके साथ-साथ उन्होंने यह भी कहा कि भारत केवल आध्यात्मिक क्षेत्र में ही आगे नहीं है बल्कि प्रशासन और कूटनीति, साम्राज्य निर्माण, राजनीति, कराधान ढांचा और सैन्य संगठन, युद्ध कला, कृषि, औद्योगिक और वाणिज्यिक विकास के क्षेत्र में भी भारत की क्षमता अपार है। अतीत में झांकते हुए कई इतिहासकारों ने समकालीन यूरोप की तुलना में भारत के कूटनीतिक और राजनीतिक संस्थाओं को श्रेष्ठ बताया। उन्होंने इस धारणा का पुरजोर विरोध किया कि प्राचीन भारत राज चलाने में नितांत असमर्थ था। उन्होंने बीसवीं शताब्दी के आरंभ में कौटिल्य के अर्थशास्त्र की काफी प्रशंसा की और कहा कि इससे साबित होता है कि भारतवासी प्रशासन, कूटनीति और राज्य के आर्थिक प्रबंध में कुशल थे। कई इतिहासकारों ने कौटिल्य का महिमागान किया और उनकी तुलना मैकियावेली और बिसमार्क से की। कई इतिहासकारों ने राज्य पर धर्म के प्रभाव को खारिज किया और इस बात पर बल दिया कि भारत के राज्य धर्मनिरपेक्ष हुआ करते थे। उन्होंने इस धारणा को भी नकारा कि प्राचीन भारत के शासक निरंकुश और तानाशााह हुआ करते थे। उनके अनुसार प्राचीन भारत के शासक न्यायप्रिय थे। उन्होंने इस दलील को भी खारिज किया कि भारतीय शासक जनकल्याण नहीं किया करते थे। कई इतिहासकारों ने तो राज्य में जन कल्याण के उदाहरण प्रस्तुत किए और कई ने तो यहां तक कहा कि कई राज्यों का राजनीतिक ढांचा आधुनिक लोकतंत्र से मिलता जुलता था। कुल मिलाकर सभी विद्वानों का यह मानना था कि सरकार गैर जिम्मेदार और मनमौजी नहीं थी। राजा की शक्ति और निरंकुशता पर कई प्रकार के प्रतिबंध लगे हुए थे। कई सूत्रों के जरिए जनशक्ति प्रकट होती थी। कुछ लोगों का मानना था कि भारतीय राजतंत्र संभवतः राजनीतिक राजतंत्र था। उदाहरण के लिए कौटिल्य द्वारा वर्णित मंत्रिपरिषद की तुलना ब्रिटेन के प्रीवी काउंसिल से की गई थी। इसके अलावा स्थानीय स्वशासन कायम था और ग्रामपंचायतों का गठन लोकतांत्रिक चुनाव द्वारा किया जाता था। कई इतिहासकारों ने चंद्रगुप्त, अकबर और शिवाजी जैसे शासकों के शासनकाल में विधान सभाओं, संसदों और मंत्रिमंडल का भी हवाला दिया। यह भी बताया गया कि युद्ध के दौरान राजा अंतरराष्ट्रीय कानून का सम्मान किया करते थे। उन्होंने इस आरोप को खारिज किया कि भारतीय शासक जोर जबरदस्ती से कर वसूला करते थे और बताया कि उस समय की कर व्यवस्था आधुनिक कर व्यवस्था के समान थी। बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध के एक प्रख्यात इतिहासकार के. पी. जयसवाल ने इस दृष्टिकोण को अतिरेक की सीमा तक आगे बढ़ा दिया। 1915 में प्रकाशित अपनी पुस्तक *हिन्दू पोलिटी* में उन्होंने तर्क दिया कि प्राचीन भारतीय राजनीति व्यवस्था गणतंत्रीय या फिर संवैधानिक राजतंत्र थी। उन्होंने निष्कर्ष प्रस्तुत किया कि; ''हिन्दुओं द्वारा शुरु की गई संवैधानिक प्रगति की तुलना किसी से नहीं कर जा सकती क्योंकि किसी भी प्राचीन राजनीतिक व्यवस्था से यह काफी आगे बढ़ी हुई थी।'' (यह तर्क उस यूरोपीय धारणा को काटने के लिए था जिसमें कहा गया था कि यूनान जनतंत्र की जन्मभूमि है।)

राष्ट्रवादी दृष्टिकोण में मूलतः इस बात पर बल दिया गया था कि पश्चिम में जिसे राजनीतिक रूप से सकारात्मक माना गया वह पहले से ही भारत में मौजूद था। अतएव आर.सी. मजूमदार ने अपनी पुस्तक *कॉरपोरेट लाइफ इन एन्सिएंट इंडिया* में लिखा है कि ये संस्थाएं ''जिन्हें हम पश्चिम की देन मानते हैं वे भारत में सदियों पहले मौजूद थीं।'' यहां महत्वपूर्ण बात यह है कि पश्चिम की मूल्य संरचना को स्वीकार कर लिया गया था। समग्र रूप से प्राचीन भारतीय राजनीतिक संस्थाओं की महानता स्थापित नहीं की गई थी बल्कि महान मानी गई पश्चिमी संस्थाओं को प्राचीन भारत में ढूंढने का प्रयास किया गया।

उपनिवेशवादी इतिहासकारों ने इस बात पर बल दिया था कि भारत हमेशा से धर्म, क्षेत्र, भाषा और जाति में विभाजित था और उपनिवेशवादी व्यवस्था ने इन्हें एकीकृत किया और औपनिवेशिक शासन के समाप्त होते ही भारत फिर खंड-खंड में विभक्त हो जाएगा। इसके

जरिए वे यह भी कहना चाहते थे कि भारतवासियों में देशभक्ति और राष्ट्रीय एकता की भावना की कमी थी। राष्ट्रवादी इतिहासकारों ने इस औपनिवेशिक स्कूल का विरोध किया और कहा कि अंग्रेजों के आने के पहले भी भारत में सांस्कृतिक, राजनीतिक एकता तथा भारतीय राष्ट्र की संकल्पना मौजूद थी। उन्होंने कौटिल्य का उदाहरण देते हुए बताया कि **अर्थशास्त्र** में उसने राष्ट्रीय सम्राट की जरूरत महसूस की थी। अतीत में भारत की एकता को पुष्ट करने के लिए ही भारतीय इतिहासकारों ने भारतीय इतिहास को भारतीय सम्राटों के इतिहास के रूप में और साम्राज्यों को अतीत के गौरव के रूप में देखा। उनके विचार में चंद्रगुप्त मौर्य, अशोक, चंद्रगुप्त विक्रमादित्य और अकबर महान थे क्योंकि उन्होंने बड़े साम्राज्यों का निर्माण किया। गांधी युग में इस राष्ट्रवादी दृष्टिकोण में विरोधाभास पैदा हुआ। एक ओर भारत को अहिंसा की भूमि कहा जा रहा था और दूसरी ओर साम्राज्य निर्माताओं की सैन्य शक्ति की प्रशंसा की जा रही थी। कुछ इतिहासकारों ने अहिंसा के पुजारी होने के कारण अशोक की प्रशंसा की। कुछ इतिहासकारों ने इसी बात के लिए उसकी आलोचना की क्योंकि इससे साम्राज्य कमजोर हुआ और विदेशी आक्रमणकारियों का दबाव बढ़ने लगा।

राष्ट्रवादियों ने भारतीय संस्कृति और सामाजिक ढांचे की बढ़चढ़कर बड़ाई की। इस धुन में वे जातिगत शोषण और निम्न जातियों के सामाजिक और आर्थिक दलन और पुरुष वर्चस्व को नजरअंदाज कर बैठे। इसके अलावा उन्होंने विश्व सभ्यता के विकास में भारत के योगदान का तो खुलासा किया परंतु भारत के विकास में अन्य संस्कृतियों और सभ्यताओं के योगदान को दरकिनार कर दिया।

ऐतिहासिक सच को यदि हम छोड़ दें, जिसकी यहां चर्चा नहीं की जा सकती, राष्ट्रवादी इतिहासकारों की प्राचीन भारत के प्रति दृष्टिकोण के कुछ अति नकारात्मक परिणाम सामने आए। 1) भारतवासियों की इस समस्त उपलब्धि के सूत्र प्राचीन भारत से जोड़े गए, 2) हिन्दू संस्कृति और सामाजिक ढांचे पर बल दिया गया तथा ब्राह्मणवादी और संस्कृतिजन्य भावों को प्राथमिकता दी गई, 3) अतीत का गौरवगान सम्प्रदायवाद से जुड़ा और बाद में इसने क्षेत्रीयतावाद को बढ़ावा दिया।

1930 के दशक के आरंभ में भारतीय अतीत के प्राचीन काल पर लिखा गया भारतीय इतिहास अपने चरम उत्कर्ष पर पहुंच गया। बाद में इस लेखन की नकल की जाती रही।

1920 के दशक के दौरान और उसके बाद औपनिवेशिक और सामुदायिक दृष्टिकोणों को नकारने के लिए मध्यकालीन भारत पर राष्ट्रवादी इतिहास-लेखन किया गया। मध्यकालीन भारत का इतिहास लिखनेवाले राष्ट्रवादी इतिहासकारों ने प्राचीन भारतीय इतिहास अपनानेवाले राष्ट्रवादी दृष्टिकोण को ही कमोबेश दोहराया। खासतौर पर उन्होंने इस बात पर बल दिया कि उत्तरी भारत में एक सामासिक संस्कृति मौजूद थी और हिन्दुओं और मुसलमानों में सामान्य जन और संभ्रांत जन के बीच मेल मिलाप और भाईचारा कायम था।

उन्होंने इस उपनिवेशवादी साम्प्रदायिक दृष्टिकोण का भी विरोध किया कि मुसलमान शासक इस देश में बसने के बाद भी विदेशी बने रहे या यह कि वे मूलतः दमनकारी थे, और अपने पहले के शासकों या पूरी दुनिया में फैले अपने समकालीनों की तुलना में ज्यादा दमनकारी थे। इसके अलावा उन्होंने इस बात से भी इनकार किया कि हिन्दू और मुसलमान एक दूसरे के खून के प्यासे थे और हमेशा उनके बीच तलवार टंगी रहती थी।

अतीत का गौरवगान और औपनिवेशिक दुष्प्रचार से भारतीय संस्कृति की रक्षा के प्रयास की प्रवृत्ति के बावजूद राष्ट्रवादी इतिहासकारों ने इस प्रश्न का भी जवाब ढूंढने का प्रयास किया कि एक छोटी सी व्यापारिक कम्पनी, जो हजारों मील दूर देश से यहां आई थी, इतने बड़े राष्ट्र पर कैसे कब्जा कर लिया, जिसका अतीत इतना गौरवशाली और सभ्यता इतनी महान थी। इसके साथ ही भारतीय संस्कृति और सामाजिक संरचना की आलोचना शुरू हुई और

यहीं से सामाजिक इतिहास के अध्ययन की पहली ईंट रखी गई और खासतौर पर जाति व्यवस्था और महिलाओं की स्थिति पर विचार होना शुरू हुआ।

उपनिवेशवाद के समकालीन राष्ट्रवादी आलोचकों ने पहली बार पूर्व-औपनिवेशिक भारत के आर्थिक इतिहास को आलोचनात्मक दृष्टिकोण से देखा। जैसे-जैसे राष्ट्रवादी आंदोलन जन आंदोलन के रूप में आगे बढ़ता गया वैसे-वैसे 1930 के दशक में इतिहास में सामान्य जन की भूमिका के अध्ययन की ओर दृष्टि गई। लेकिन 1950 के दशक के बाद ही इस प्रवृत्ति का तेजी से विकास हुआ।

यहां एक बात ध्यान में रखनी चाहिए कि जिन इतिहासकारों की चर्चा हम यहां कर रहे हैं उनके पास संसाधनों की भी कमी थी। उन्हें ज्यादातर लिखित स्रोतों पर ही आश्रित रहना पड़ा। हालांकि पुरालेखाशास्त्र और मुद्राशास्त्र उपलब्ध होने लगे थे, पुरातत्व अभी भी अपनी शैशवास्था में था जबकि मानवशास्त्र तथा समाजशास्त्र का उपयोग न के बराबर हो रहा था। अर्थशास्त्र भी अभी तक अर्थशास्त्रियों का ही क्षेत्र माना जाता था।

20.4 आधुनिक युग का राष्ट्रवादी इतिहास

राष्ट्रवादी इतिहास-लेखन मुख्य रूप से प्राचीन और मध्यकालीन भारत के इतिहास-लेखन से सम्बद्ध था और इसी से उसे शोहरत भी मिली। आधुनिक काल के इतिहास में इनका कोई दखल नहीं था और 1947 के बाद ही इस धारा के इतिहासकारों ने आधुनिक भारत पर अपनी कलम उठाई। इसका एक कारण यह था कि राष्ट्रवाद के दौर में राष्ट्रवादी होने का मतलब था साम्राज्यवाद विरोधी होना। इसके लिए शासक और औपनिवेशिक शासन से दुश्मनी भी मोल लेनी पड़ती और शिक्षाविदों के लिए ऐसा करना संभव न था क्योंकि शिक्षा व्यवस्था और शिक्षण संस्थाओं पर औपनिवेशिक नियंत्रण था। इसलिए 1947 के बाद जब भारत आजाद हुआ तो साम्राज्यवाद विरोधी होने में कोई खतरा नहीं था। इसलिए राष्ट्रीय आंदोलन या औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था का कोई इतिहास सामने नहीं आया। परंतु 1947 के पहले राष्ट्रवादी इतिहास-लेखन की अनुपस्थिति की यह सम्पूर्ण व्याख्या नहीं है। उसी दौरान भारतीय अर्थशास्त्रियों ने भारत की उपनिवेशवादी अर्थशास्त्र और भारतवासियों पर इसके पड़नेवाले प्रभाव की कटु आलोचना की थी।

उन्नीसवीं शताब्दी के अंत में दादाभाई नौरोजी जस्टिस रानाडे, जी.वी. जोशी, आर.सी.दत्त, के.टी. तेलंग, जी.के.गोखले और डी.ई.वाचा जैसे राष्ट्रवादी अर्थशास्त्रियों ने उपनिवेशवादी अर्थव्यवस्था की विस्तृत और वैज्ञानिक आलोचना प्रस्तुत की। इनमें से कोई भी शिक्षण कार्य से नहीं जुड़ा था। शिक्षण कार्य से जुड़े कई अर्थशास्त्रियों जैसे के.टी.शाह, वी.सी.काले, सी. एन.वकिल, डी.आर.गाडगिल, ज्ञानचंद वी.के.आर.वी.राव और वाडिया और मर्चेन्ट जैसे लोगों ने बीसवीं शताब्दी के पहले हिस्से में उन्हीं की तर्ज पर अपनी लेखनी चलाई। लेकिन उस दौरान लिखी गई इतिहास की पुस्तक में यह आलोचनात्मक दृष्टि देखने को नहीं मिलती है। यह दृष्टि 1947 के बाद और खासतौर पर 1960 और उसके बाद ही विकसित हुई। हालांकि 1920 के बाद के जनांदोलन में यह आलोचनात्मक दृष्टि राष्ट्रीय आंदोलन का एक प्रमुख हिस्सा बन चुकी थी। उदाहरण के लिए तिलक. गांधी जी, जवाहरलाल नेहरू, सरदार पटेल, सुभास बोस ने भी इसी दृष्टिकोण का अनुगमन किया था। कुछ ही इतिहासकारों ने राष्ट्रीय आंदोलन पर टिप्पणी की थी और 1947 के बाद के कुछ राष्ट्रवादी इतिहासकारों ने इसे साम्राज्यवाद विरोधी आदोलन के रूप में देखा। इसी प्रकार आर.सी. प्रधान, ए.सी.मजूमदार, जवाहरलाल नेहरू और पट्टाभी सीतारमय्या जैसे राष्ट्रवादी इतिहासकारों ने राष्ट्रवादी आंदोलन पर अपनी कलम चलाई। 1947 के बाद के इतिहासकारों ने राष्ट्रवाद और भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन की सत्ता तो स्वीकार की परंतु उपनिवेशवाद की आर्थिक आलोचना में

इसकी जड़ें नहीं तलाश की। उन्होंने राष्ट्रीय आंदोलन की अन्य धाराओं को कम महत्व दिया, हालांकि उन्हें बहुत नजरअंदाज नहीं किया।

आधुनिक इतिहासकार भी खेमों में विभाजित थे। तारा चंद जैसे इतिहासकारों का मानना था कि उन्नीसवीं शताब्दी में ही भारत एक राष्ट्र के रूप में निर्मित होने लगा था जबकि कुछ इतिहासकारों का यह मानना था कि भारत प्राचीन काल से ही एक राष्ट्र के रूप में स्थापित था। इसके साथ ही साथ इन सभी इतिहासकारों ने भारत की बहुभाषी, बहुधार्मिक, बहुजातीय और बहुसांस्कृतिक प्रवृत्ति के रूप में भारतीय विविधता को रेखांकित किया। परंतु भारतीय इतिहासकारों ने भारतीय समाज के अन्तर्विरोध को या तो नजरअंदाज किया था या दरकिनार किया था और उन्होंने जाति व्यवस्था, निम्न जातियों के उत्पीड़न तथा महिलाओं तथा जनजातियों के दमन को परदे के पीछे रखने का प्रयत्न किया था। उन्होंने जाति और वर्ग उत्पीड़न के खिलाफ होनेवाले आंदोलन पर भी ध्यान नहीं दिया। उन्होंने राष्ट्रीय आंदोलन का कभी भी गहराई से जाकर विश्लेषण नहीं किया और आंख पर पट्टी बांधकर भारत का गौरवगान करते रहे। उन्होंने धर्मनिरपेक्ष दृष्टि अपनाई और सम्प्रदायवाद का विरोध किया। परंतु उन्होंने इसकी प्रवृत्ति और तत्वों और इसके विकास को गंभीरता से विश्लेषित करने का प्रयास नहीं किया। आमतौर पर इसे अंग्रेजों की विभाजन करो और शासन करो की नीति के रूप में देखा गया। उन्होंने समाज सुधार आंदोलनों को तो स्थान दिया परंतु उनका आलोचनात्मक मूल्यांकन नहीं किया और उन्होंने जनजातीय समूहों और निम्नजातियों द्वारा अपनी मुक्ति के लिए किए गए आंदोलनों को भी नजरअंदाज कर दिया। कुल मिलाकर इतिहासकारों ने आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक इतिहास को नजरअंदाज कर दिया। ज्यादा से ज्यादा उन्होंने एक दो अध्याय जोड़ दिए परंतु इसे मूल कथ्य के साथ सूत्रबद्ध नहीं किया।

कुल मिलाकर राष्ट्रवादी इतिहासकारों ने भारतीय समाज के आन्तरिक अन्तर्विरोधों को नजरअंदाज करने का प्रयास किया। वे उच्च जाति और पुरुष वर्चस्व से प्रेरित संस्कृति और सामाजिक पूर्वाग्रह से ग्रस्त थे। कुल मिलाकर उन्होंने एक ही रट लगाई कि भारत पूरी दुनिया से अलग एक विशिष्ट राष्ट्र था जिसकी किसी से तुलना नहीं की जा सकती। ऐतिहासिक विकास में भारत की सर्वोच्चता सिद्ध करने के चक्कर में वे भारतीय सामाजिक संस्थाओं के ऐतिहासिक विकास को नहीं पकड़ सके। उन्होंने जेम्स मिल द्वारा भारतीय इतिहास के हिन्दू और मुस्लिम युग के रूप में काल विभाजन की अवधारणा को मानकर आधुनिक भारत के राजनीतिक विकास और भारतीय इतिहास के अध्ययन को नकारात्मक प्रवृत्ति से जोड़ा और क्षति पहुंचाई।

20.5 सारांश

राष्ट्रवादी इतिहासकारों ने कड़ी मेहनत और श्रम से विद्वतापूर्ण ढंग से भारत का इतिहास लिखा। उन्होंने इसके लिए श्रमपूर्वक अनुसंधान किया और अपनी दृष्टि में सत्य की खोज की। उन्होंने बड़ी सावधानीपूर्वक और सूक्ष्मता से अपने सारे वक्तव्यों के प्रमाण प्रस्तुत किए। इसलिए उनका लेखन देखने में ऊपर से बड़ा ठोस प्रतीत होता है। उनके अनुसंधान ने अतीत के बारे में हमारी समझ और व्याख्या को आगे बढ़ाया। वे हमारी संस्कृति के औपनिवेशीकरण के खिलाफ सांस्कृतिक ढाल बनकर खड़े हुए। उनमें से कई लोगों ने नए स्रोतों की खोज की और मौजूदा स्रोतों की व्याख्या के लिए नए ढांचे खड़े किए। उन्होंने कई नए सवाल उठाए, विवाद पैदा किया और नई बहस की शुरुआत की। उन्होंने यह अवधारणा विकसित की कि ऐतिहासिक अनुसंधान ओर लेखन का प्रासंगिक होना और वर्तमान से जुड़ा होना आवश्यक है। हालांकि उन्होंने अपने अनुसंधान में आम आदमी को जगह नहीं दी परंतु उन्होंने इस अवधारणा को स्वीकार किया और विकसित किया कि आम आदमी का इतिहास और उसकी भूमिका इतिहास-लेखन का प्रमुख घटक होना चाहिए।

सबसे बड़ी बात यह कि राष्ट्रवादी इतिहास-लेखन ने आत्मविश्वास, आत्माभिव्यक्ति और कुछ हद तक राष्ट्रीय गौरव और चेतना विकसित करने में मदद की जिसने उपनिवेशवाद के खिलाफ संघर्ष करने के लिए भारतीय जनता को इच्छा शक्ति और मजबूती प्रदान की। उपनिवेशवादी लेखकों ने भारतीय अतीत की एक निषेधात्मक तस्वीर प्रस्तुत की थी और इससे यहां के लोगों में कुंठा घर करने लगी थी। राष्ट्रवादी इतिहासकारों ने इससे भारतीय जनता को उबारा। नीलकंठ शास्त्री और अन्य इतिहासकारों ने क्षेत्रीय पूर्वाग्रह से ऊपर उठने में मदद की और भारत को गांगेय प्रदेश के क्षेत्र से बाहर निकाला। इस लिहाज से भारत के राष्ट्रवादी इतिहास-लेखन ने खासतौर पर साक्षर और पढ़े लिखे भारतवासियों को एकसूत्र में बांधने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

20.6 अभ्यास

1) उपनिवेशवादी और राष्ट्रवादी इतिहास-लेखन का अन्तर बताइए।

2) प्राचीन भारत से सम्बद्ध राष्ट्रवादी लेखन की विशिष्टताएं बताइए।

3) आधुनिक काल के संबंध में राष्ट्रवादी इतिहासकारों द्वारा उठाए गए मुद्दों पर विचार कीजिए।

इकाई 21 सम्प्रदायवादी प्रवृत्तियां

इकाई की रूपरेखा

21.1 प्रस्तावना

सम्प्रदायवादी चेतना के प्रसार में साम्प्रदायिक विचारधारा का बहुत बड़ा हाथ था और भारतीय इतिहास की सम्प्रदायवादी व्याख्या ने इस प्रवृत्ति को हवा दी। दरअसल यह कहना गलत न होगा कि भारत की सम्प्रदायवादी विचारधारा में मुख्य रूप से इतिहास की सम्प्रदायवादी व्याख्या प्रमुख घटक तत्व थी। हिन्दू सम्प्रदायवाद पर खासतौर पर यह बात लागू होती है। मुस्लिम सम्प्रदायवाद ने भी 'इतिहास' का उपयोग किया परंतु यह मुख्य रूप से धर्म और अल्पसंख्यक भावना से प्रभावित था जिसका उपयोग लोगों में डर पैदा करने के लिए किया जाता था। इसी प्रकार का डर पैदा करने के लिए हिन्दू सम्प्रदायवादियों ने भारतीय इतिहास के मध्यकाल को मिसाल के तौर पर पेश किया।

विद्यालयों में पढ़ाए जानेवाले इतिहास ने खासतौर पर साम्प्रदायिकता के फैलने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। उदाहरण के लिए गांधी जी ने इस ओर इशारा करते हुए कहा था : ''जबतक पाठ्यपुस्तकों के माध्यम से हमारे स्कूलों और कॉलेजों में इस तरह का विकृत इतिहास पढ़ाया जाता रहेगा तबतक हम कभी भी स्थाई रूप से अपने देश में सम्प्रदायवादी सौहार्द स्थापित नहीं कर सकते।'' इसी प्रकार राष्ट्रीय कांग्रेस द्वारा नियुक्त कानपुर दंगों की जांच समिति रिपोर्ट की प्रस्तावना में 1932 में लिखा गया था कि स्कूलों में पढ़ाए जानेवाले मध्यकालीन इतिहास की पुस्तकों और दूसरी पुस्तकों में निहित सम्प्रदायवादी दृष्टि 'दोनों समुदायों के बीच दरार पैदा करने में अहम भूमिका निभा रही है' और 'सबसे पहले इस प्रकार की ऐतिहासिक भ्रांतियों और दुष्प्रचारों को रोकना होगा और हिन्दू मुस्लिम समस्या के समाधान के लिए यह एक सर्वाधिक अनिवार्य कदम होगा।'

कविता, नाटक, ऐतिहासिक उपन्यास, समाचारपत्रों और पत्रिकाओं में छपनेवाले लोकप्रिय लेखों, बच्चों की कविताओं, पैम्फलेटों और सार्वजनिक भाषणों के जरिए इतिहास का यह सम्प्रदायवादी दृष्टिकोण चारों ओर फैलता रहा है और फैल रहा है। इसमें उन लोकप्रिय माध यमों के जरिए प्रसारित इन धारणाओं में कहीं भी इतिहास नहीं होता परंतु जनता के दिलोदिमाग में इतिहास का यही रूप बस जाता है। गौरतलब है कि 1947 के पहले भारतीय इतिहासकारों ने विद्वता या अनुसंधान के स्तर पर कभी भी जानबूझकर इतिहास-लेखन में सम्प्रदायवादी दृष्टिकोण नहीं अपनाया क्योंकि बुद्धिजीवी वर्ग पर धर्मनिरपेक्ष राष्ट्रवादी प्रभाव

काम कर रहा था। परंतु 1947 के बाद ही सम्प्रदायवादी शक्तियों ने भारत और पाकिस्तान में बुद्धिजीवी वर्ग में अपनी जगह बनाई। राजनीतिक नेताओं ने खुलेआम इतिहास को सम्प्रदायवादी रंग में रंगा और जैसा कि हमने पहले बताया था विद्यालयों में पढ़ाई जानेवाली पाठ्यपुस्तकों और लोकप्रिय लेखन आदि में इनकी झलक मिलती है। यहां एक बात गौर करने की है कि हालांकि हिन्दू और मुसलमान एक दूसरे के खिलाफ मोर्चा लेते हुए दिखाई पड़ते हैं परंतु मूलतः इतिहास-लेखन में वे एक ही तरह का ढांचा और तर्क पद्धति अपनाते हैं, बस उनमें अंतर यही होता है कि उनके इतिहास का खलनायक दूसरा धार्मिक समुदाय होता है।

21.2 उपनिवेशवादी इतिहास-लेखन पर निर्भरता

राष्ट्रवादी इतिहासकारों ने जहां एक ओर उपनिवेशवादी बौद्धिक ढांचे के खिलाफ अपने तर्क गढ़े और ढांचे खड़े किए वहीं सम्प्रदायवादी इतिहासकारों ने अपने तर्कों के लिए मध्यकालीन भारत के उपनिवेशवादी इतिहास-लेखन और पाठ्यपुस्तकों को ही आधार बनाया। भारतीय सम्प्रदायवादी इतिहासकारों ने ब्रिटिश इतिहासकारों और प्रशासकों के लेखन के आधार पर ही अपनी धारणा विकसित की। अंग्रेज सोची समझी रणनीति के तहत इस प्रकार की व्याख्या प्रस्तुत कर रहे थे। 1820 के दशक के अंत तक आते-आते अंग्रेज शासकों ने यह भलीभांति जान लिया था कि भारत पर बलपूर्वक वे बहुत दिनों तक शासन नहीं कर सकते इसलिए उन्होंने फूट डालो और शासन करो की नीति अपनाई। उन्होंने क्षेत्रीय, भाषाई और जातीय आधार पर भारतवासियों को बांटने का प्रयत्न किया परंतु उनका सबसे ज्यादा जोर धार्मिक ध्रुवीकरण पर रहा। अपने विदेशी मूल को जायज ठहराने के लिए उन्होंने यह साबित करने की कोशिश की कि भारत पर हमेशा विदेशियों का शासन रहा है। मुसलमानों का शासन विदेशियों का शासन था इसलिए अंग्रेजों के विदेशी शासन में कुछ गलत नहीं था। अंग्रेजों ने केवल एक विदेशी शासक की जगह पर दूसरे विदेशी शासक का स्थान ग्रहण किया जो पहले के क्रूर और अमानवीय शासन की अपेक्षा सहिष्णु और मानवीय था। उन्होंने यह भी साबित करने की कोशिश की कि मुस्लिम शासकों ने हिन्दुओं को सताया, प्रताड़ित किया और तरह-तरह की यातनाएं दीं और अंग्रेजों ने उनसे मुक्ति दिलाई। इसलिए ब्रिटिश शासन में हिन्दुओं की स्थिति बेहतर हुई इसलिए उन्हें उनका समर्थन करना चाहिए विरोध नहीं। उन्होंने यह भी साबित करने की कोशिश की कि हिन्दू और मुसलमान हमेशा से आपस में लड़ते झगड़ते रहे हैं और जबतक शासक के रूप में अंग्रेज यहां नहीं आए तबतक उनके बीच तलवार खींची रही। इसीलिए मध्यकालीन भारत के एक प्रमुख अंग्रेज इतिहासकार एच. एम.एलिएट ने 1849 में *हिस्ट्री ऑफ इंडिया ऐज टोल्ड बाई इट्स ओन हिस्टोरियन्स* की प्रस्तावना में लिखा है कि 'हिन्दुओं और मुसलमानों में हमेशा शत्रुता बनी रही। विरोध करने पर मुसलमानों ने हिन्दुओं की गरदन उतार ली। वे शोभा यात्रा नहीं निकाल सकते थे, पूजा अर्चना नहीं कर सकते थे, उनकी मूर्तियों को अपमानित किया गया, मन्दिर उजाड़ दिए गए, जबरन उनका धर्मांतरण और विवाह किया गया। उन्हें तरह-तरह से दंडित किया गया। जनसंहार और हत्याएं की गईं और शासकों ने क्रूरता का नंगा नाच खेला।' उसने अपने इस इतिहास के प्रकाशन की मंशा भी साफ कर दी। उसने कहा कि 'इस इतिहास का उद्देश्य प्रजा को यह बताना है कि हमारा शासन पहले के शासन की अपेक्षा कितना उदार और समतावादी है।' वह राष्ट्रवादी बुद्धिजीवियों को 'बम्बास्टिक बाबू' कहा करता था। उसने उन्हें संबोधित करते हुए कहा कि पहले यह देखो कि अंग्रेजों के आने से पहले तुम्हारी कितनी बुरी स्थिति थी। इसलिए ब्रिटिश उपनिवेशवाद की आलोचना करना बंद करो। एक बात ध्यान रखने की है कि एम.ए. जिन्ना और वी.डी.सावरकर ने पहली बार 1937 में द्विराष्ट्र के सिद्धांत को सामने नहीं रखा जिसके कारण देश का विभाजन हुआ। इसके बहुत पहले अंग्रेज लेखकों ने यह धारणा बना दी थी कि भारतीय राष्ट्र का मतलब है हिन्दू राष्ट्र; और तुर्की, अफगान और मुगल शासकों का शासन विदेशी शासन था जबकि राजपूत राजाओं और मराठा सरदारों

का शासन हिन्दू शासन था। परंतु मुगल शासन कैसे विदेशी हो सकता था? क्योंकि वे मुसलमान थे। इसलिए हम यह कह सकते हैं कि इतिहास की सम्प्रदायवादी व्याख्या अंग्रेजों की फूट डालो और शासन करो की नीति का एक हिस्सा थी।

अंग्रेज लेखकों और बाद में भारतीय इतिहासकारों के सम्प्रदायवादी दृष्टिकोण का एक कारण यह भी था कि मध्यकाल का इतिहास लिखने के लिए उनके सामने जो मध्यकालीन विवरण और तथ्य थे वे भी सम्प्रदायवादी थे। मध्यकाल और प्राचीनकाल में भी इतिहासकारों और इतिवृत्ति लिखनेवाले लेखकों में मुख्य रूप से ब्राह्मण वर्ग शामिल था क्योंकि उस समय वही एक शिक्षित वर्ग था। धार्मिक परिप्रेक्ष्य में ही वे किसी भी घटना की व्याख्या करते थे क्योंकि उसमें उनका स्वार्थ निहित था। इसलिए उनके लेखन की एक बहुत बड़ी सीमा थी। वे सेक्यूलर घटनाओं को भी धार्मिक रंग दे दिया करते थे। वे राजाओं और सामंतों को ईश्वर के दूत के रूप में चित्रित करते थे। यह ब्राह्मण वर्ग और अन्य इतिवृत्त लेखक राजाओं, कुलीनों और जमींदारों के संरक्षण में जीवनयापन करते थे। इसलिए वे उनके स्वार्थपूर्ण कार्यों को भी धार्मिक आवरण से ढक देते थे। खूनी लड़ाई, दरबारों के षडयंत्र, रोजमर्रा की राजनीति और प्रशासनिक नीतियों को भी धार्मिक जामा पहनाया जाता था। दूसरों को पराजित करना या अपने राज्य को विस्तारित करने के लिए होनेवाले आपसी लड़ाइयों को धार्मिक प्रेरणा और निष्ठा से जोड़ा जाता था। इसीलिए अशोक, चंद्रगुप्त, सुल्तानों, मुगलों, मराठा सरदारों और राजपूत राजाओं के प्रशासनिक या राजनीतिक कार्रवाइयों को समकालीन लेखकों ने धर्म से जोड़कर वर्णित किया।

ऐसा नहीं है कि केवल भारत में ही इस प्रकार का लेखन हुआ था। यूरोप के मध्यकालीन इतिहास लेखक भी इसी तर्क पर इतिहास लिखते थे। परंतु उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी के यूरोपीय इतिहासकारों ने इस धार्मिक आवरण को उतार फेंका। मसलन धर्मयुद्धों या मध्यकालीन पोप और राजाओं के अध्ययन करते समय धर्म का आवरण हटा दिया गया। इसी प्रकार सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दी में पुर्तगाली और स्पेनी प्रसार को ईसाई धर्म के प्रसार के साथ जोड़कर दिखाया गया। आज कोई भी यूरोपीय इतिहासकार पुर्तगाली या स्पेनी शासनों की प्रशंसा या आलोचना करने में इस कारक को स्वीकार नहीं करेगा।

दुर्भाग्यवश उपनिवेशवादी और कुछ भारतीय इतिहासकारों ने प्राचीन और मध्यकालीन इतिवृत्तों के लेखकों की धार्मिक दृष्टि को अपने लेखन में शामिल कर लिया और इस प्रकार भारतीय इतिहास की सम्प्रदायवादी व्याख्या को हवा दी। उदाहरण के लिए आज भी हिन्दू और मुसलमान सम्प्रदायवादी इतिहासकार महमूद गजनी के आक्रमण को धर्म से प्रेरित मानते हैं और बताते हैं कि इसका संबंध इस्लाम के स्वरूप और प्रकृति से है। इसी प्रकार वे मध्यकालीन भारत में राणाप्रताप और अकबर या शिवाजी और औरंगजेब के बीच होनेवाले राजनीतिक युद्धों को धर्म पर आधारित और प्रेरित मानते हैं। इसके अलावा प्राचीन और मध्यकाल के साहित्यिक स्रोत मुख्य रूप से राजाओं, राज दरबारों और उच्च जातियों के कारनामों का वर्णन करते हैं न कि पूरे समाज का। शासकीय वर्गों के सैन्य और कूटनीतिक कार्रवाइयों को भी धार्मिक चश्मे से देखने की कोशिश की जाती थी। युद्ध और संधि के समय कई कारक कार्यशील होते थे। मूल मुद्दा तह के भीतर होता था। वैवाहिक बंधनों, भाषा, जाति, क्षेत्र के साथ-साथ धर्म को भी औजार के रूप में प्रयुक्त किया जाता था परंतु मुख्य मुद्दा और स्वार्थ आर्थिक या राजनीतिक होता था। आज भी राष्ट्र अपने स्वार्थों पर नेकनियती का मुलम्मा चढ़ाते हैं। अन्तर यही है कि यदि कोई इतिहासकार किसी सरकारी कथन को हू-ब-हू स्वीकार कर लेता है तो इतिहासकारों का समाज उनकी खिल्ली उड़ाता है परंतु कई इतिहासकारों ने अतीत के शासकों के सरकारी बयानों और इतिवृत्तों तथा आख्यानों को स्वीकार किया है।

गौरतलब है कि उपनिवेशवादी लेखन ने समकालीन राजनीति को साम्प्रदायिक रंग में रंगा और यह दिखाया कि अतीत में भी राजनीति धर्म से प्रेरित थी और ऐतिहासिक किंवदंतियों और

कथाओं और मिथकों को समकालीन सम्प्रदायवादी राजनीति का हथियार बनाया। उसी प्रकार सम्प्रदायवादी लेखकों ने भी इन कारकों को अपने लेखन का आधार बनाया। इसलिए हिन्दू और मुसलमान दोनों ही सम्प्रदायवादियों ने अतीत की व्याख्या के जरिए अपने समकालीन अनुयाइयों के बीच डर, असुरक्षा और कट्टरता का माहौल बनाने का प्रयास किया। इस प्रकार सम्प्रदायवादी इतिहास ने साम्प्रदायिकता को जन्म भी दिया और उसे हवा भी दी। दूसरी ओर सम्प्रदायवादी राजनीति ने सम्प्रदायवादी इतिहास-लेखन और इसके प्रचार प्रसार के लिए आधार निर्मित किया। इसे दूसरे ढंग से भी कहा जा सकता है कि मध्यकाल का इतिहास जिस तरह लिखा गया वैसा था नहीं या फिर मध्यकालीन ऐतिहासिक प्रक्रिया ने साम्प्रदायिकता को जन्म नहीं दिया बल्कि इतिहास को जिस प्रकार सम्प्रदायवादी रूप में व्याख्यायित किया गया उससे साम्प्रदायिकता का जन्म हुआ। कहने का तात्पर्य यह कि यह व्याख्या अपने आप में खुद साम्प्रदायिक विचारधारा थी।

अंत में यह कहा जा सकता है कि बचपन से ही इतिहास की साम्प्रदायवादी व्याख्या सुनते-सुनते कुछ राष्ट्रवादियों और अन्य धर्म निरपेक्ष व्यक्तियों की दृष्टि में भी ये तत्व समा गए थे जो इसके सम्प्रदायवादी परिणाम से अवगत नहीं थे। उदाहरण के लिए कई लोग यह कहते हुए सुने जाते हैं कि भारत पर कई वर्ष से विदेशियों का शासन रहा है या फिर मध्यकाल में सामाजिक और सांस्कृतिक पतन हुआ या फिर उस समय मुसलमानों का शासन था आदि। इसी प्रकार राष्ट्रवादी इतिहासकारों की कृतियों में भी इतिहास के सम्प्रदायवादी तत्व और विषय मिल जाते हैं।

21.3 भारतीय इतिहास के सम्प्रदायवादी दृष्टिकोण के आधारभूत तत्व

इस भाग में हम भारतीय इतिहास की सम्प्रदायवादी व्याख्या के कुछ महत्वपूर्ण पक्षों की चर्चा करेंगे।

21.3.1 हिन्दुओं और मुसलमानों के परस्पर विरोधी समुदायों की अवधारणा

सम्प्रदायवादी दृष्टिकोण के अनुसार मध्ययुगीन भारतीय इतिहास हिन्दू मुस्लिम संघर्ष का इतिहास रहा है। हिन्दू और मुसलमान हमेशा से दो विरोधी गुटों में बंटे रहे हैं जिनके बीच दुश्मनी, वैमनस्य, ईर्ष्या और शत्रुता का भाव रहा है। हिन्दू और मुस्लिम संस्कृतियां बिलकुल अलग और विशिष्ट थीं। अलग-अलग धर्मों के होने के कारण हिन्दू और मुसलमानों की संस्कृति बिलकुल अलग थी और दोनों एक दूसरे से परस्पर शत्रुता का भाव रखते थे। राजनीतिक समुदाय के रूप में भी वे एक दूसरे के विपरीत खड़े थे। 1957 में आर.सी. मजूमदार ने लिखा कि मध्ययुगीन भारत 'दो शक्तिशाली इकाइयों में विभाजित रहा। इन दोनों ही इकाइयों की अपनी-अपनी शख्शियत थी जिनके बीच कभी भी आदान-प्रदान नहीं हुआ या कोई नजदीकी स्थाई संबंध स्थापित नहीं हुआ।' इसी प्रकार 1950 के दशक में इश्तियाक अहमद कुरैशी ने लिखा कि 'इस प्रायद्वीप के मुसलमान स्थानीय जनता के साथ घुल मिल न सके और उन्होंने प्रयत्नपूर्वक अपना विशिष्ट स्वरूप बनाए रखने का प्रयत्न किया।'

सम्प्रदायवादी राजनीतिक नेताओं ने इन दृष्टिकोणों को और भी विषाक्त बनाकर प्रस्तुत किया। मार्च 1940 में मुस्लिम लीग के लाहौर सत्र में अध्यक्षीय भाषण देते हुए मुहम्मद अली जिन्ना ने कहा कि 'बारह सौ साल के इतिहास में एकता कायम न हो सकी और सदियों से भारत हिन्दू भारत और मुस्लिम भारत में विभाजित रहा।' 1923 में वी.डी सावरकर ने अपने *हिंदुत्व* में लिखा कि 'जिस दिन मुहमम्द गजनी ने सिंधु को पार किया उसी दिन से जीवन और मृत्यु का संघर्ष शुरू हो गया जिसका अंत अब्दाली के साथ हुआ। इस संघर्ष में सभी

पंथों, क्षेत्रों और जातियों के हिन्दू प्रताड़ित हुए या फिर हिन्दुओं के रूप में ही उन्होंने अपनी विजय पताका लहराई, उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी में भी हिन्दू और मुसलमान का यह संघर्ष जारी रहा। इस दृष्टिकोण का उद्देश्य साम्प्रदायिक विचार को एक आधार प्रदान करना था जिसके अनुसार हिन्दुओं और मुसलमानों में हमेशा से शत्रुता का भाव रहा है। उदाहरण के लिए एम. एस. गोलवलकर ने राष्ट्रवादियों के उस विचार का विरोध किया जिसमें उन्होंने हिन्दुओं को 'हमारे पुराने आक्रमणकारियों और दुश्मनों के साथ खड़ा करने की कोशिश की और उन्हें भारतीय कहकर पुकारा।' उनके अनुसार 'यह आज का सबसे बड़ा खतरा है। यह हमारे आत्मसम्मान के लिए खतरा है। हम अपने पुराने और घोर शत्रुओं को अपना मित्र बनाने पर तुले हुए हैं।' मुस्लिम सम्प्रदायवादियों ने इस विचारधारा को तुरंत स्वीकार किया और इसे प्रचारित किया तथा अपना द्वि-राष्ट्रीय सिद्धांत इसी पर आधारित किया।

अपनी इसी विचारधारा को आगे बढ़ाते हुए सम्प्रदायवादी इतिहासकारों ने मध्ययुगीन समाज के किसी भी सामाजिक तनाव या संघर्ष को या तो दरकिनार किया या उसे नजरअंदाज किया। उदाहरण के लिए राजपूत और मराठा सरदारों या अफगानों और तुर्कों के राजनीतिक संघर्षों को तथा किसी भी प्रकार के जातिगत संघर्ष को पूरी तरह नजरअंदाज किया गया। हिन्दू सम्प्रदायवादियों ने मध्युयगीन मुस्लिम शासन को विदेशी शासन कहा क्योंकि वे मुसलमान थे। इसलिए मुसलमानों को भारतीय समाज के अंग के रूप में नहीं देखा गया। इसके बजाए उन्हें भारत में स्थाई रूप से बसे विदेशियों के रूप में देखा गया। ऐसा इसलिए कि वे इस्लाम धर्म को मानते थे। दूसरे शब्दों में इस विचारधारा के अनुसार, कोई भी भारतीय यदि हिन्दू धर्म को छोड़ता है तो अपने इस कृत्य से वह अपनी ही जमीन पर विदेशी हो जाता है। भारत से बाहर स्थापित होने के कारण इस्लाम भारत के लिए विदेशी धर्म है और जो भी इस धर्म का अनुयायी है वह विदेशी है।

सम्प्रदायवादियों ने मुस्लिम शासकों और ब्रिटिश शासकों दोनों को विदेशी माना। जैसा कि पहले बताया जा चुका है उन्होंने इसे 'हजारों वर्षो की गुलामी' के रूप में व्याख्यायित किया। उदाहरण के लिए, गोलवलकर ने मुसलमानों को बार-बार विदेशी कहकर संबोधित किया जिन्होंने भारत को कभी भी घर नहीं बल्कि सराय माना। मुसलमानों और ईसाइयों को चेतावनी देते हुए उन्होंने कहा कि 'विदेशी तत्वों के लिए केवल दो ही रास्ते खुले हैं या तो वे राष्ट्रीय प्रजाति में घुलमिल जाएं और इसकी संस्कृति को अपना लें या फिर राष्ट्रीय प्रजाति के रहमोकरम पर जीवित रहें।' मुस्लिम सम्प्रदायवादियों ने भी इस विचार को स्वीकार किया कि मुसलमान भारत में स्थाई रूप से विदेशी के रूप में रहते आए हैं, हालांकि उनके कहने का अंदाज कुछ अलग था। उन्होंने मुसलमानों को हिन्दुओं से बल्किुल अलग दिखाने के लिए इस विदेशी सूत्र का इस्तेमाल किया। उनके अनुसार मुसलमान हिन्दुओं की तरह भारतीय नहीं हो सकते। उदाहरण के लिए, मुहम्मद अली जिन्ना ने 1941 में इस बात पर जोर दिया कि 'जब कोई इस्लाम धर्म अपनाता है तो वह उसके हजारों वर्ष पूर्व के इतिहास से जुड़ जाता है। वह बिलकुल दूसरे खेमे में चला जाता है। वह केवल धार्मिक रूप से ही नहीं बल्कि सामाजिक रूप से भी अलग हो जाता है। वह सामाजिक, धार्मिक और सांस्कृतिक दृष्टि से एक अलग और विशिष्ट शख्सियत बन जाता है। हजारों वर्षो से मुसलमान यहां अपनी अलग दुनिया, अलग समाज, अलग दर्शन और अलग धार्मिक निष्ठा के साथ रहते आए हैं।' इसी प्रकार मुस्लिम लीग के एक नेता ममदोत के नवाब ने 1941 में कहा था कि 'भारत में लगभग बारहवीं शताब्दी से पाकिस्तान मौजूद है।'

हिन्दू और मुसलमान सम्प्रदायवादियों ने 'ऐतिहासिक शत्रुता' के सिद्धांत को आगे बढ़ाते हुए कहा कि हिन्दू और मुसलमान दो अलग-अलग राष्ट्र हैं। 1937 के बाद मुसलमान सम्प्रदायवादियों ने यह मांग की कि 'दो राष्ट्र' एक साथ नहीं रह सकते और आजादी के बाद मुसलमानों को अलग राष्ट्र यानी पाकिस्तान चाहिए। दूसरी ओर हिन्दू सम्प्रदायवादियों ने

1937 के बाद एक ऐसे हिन्दू राष्ट्र के निर्माण की बात की जिसमें मुसलमानों की स्थिति दोयम दर्जे की होनी थी।

21.3.2 मध्यकालीन भारत में मुसलमानों को शासक के रूप में देखने की दृष्टि

सम्प्रदायवादी विचारधारा में प्रमुखतः इस बात पर बल दिया जाता है कि मध्यकालीन भारत में मुसलमान शासक वर्ग था और हिन्दू शासित। मुसलमान राजा थे और हिन्दू प्रजा। इसलिए सभी मुसलमान चाहे वे गांव में रहते हों या शहर में, चाहे वे अमीर हों या गरीब, किसान हों या सैनिक, सभी को शासक के रूप में चित्रित किया गया जबकि राजाओं, सरदारों, सामंतों, जमींदारों और बड़े हिन्दू पदाधिकारियों को शासित के रूप में चित्रित किया गया। इसीलिए 1941 में लाहौर में विद्यार्थियों को संबोधित करते हुए एम.ए. जिन्ना ने कहा था कि 'हम हिन्दुओं से कुछ नहीं मांग रहे क्योंकि हिन्दुओं का कभी भी पूरे भारत पर अधिकार नहीं रहा। बल्कि मुसलमानों ने भारत पर 700 वर्षों तक शासन किया। अंग्रेजों ने मुसलमानों से भारत की सत्ता हथियाई।' हिन्दू सम्प्रदायवादियों ने स्वाभाविक तौर पर यह स्वीकार किया कि 'मुस्लिम शासन' के दौरान हिन्दू 'दास' का जीवन व्यतीत कर रहे थे। उदाहरण के लिए 1937 में वी.डी. सावरकर ने लिखा कि भारत में मुसलमान शासकों का शासन 'हिन्दू राष्ट्र के लिए मौत का पैगाम था।'

इसी विचारधारा को आगे बढ़ाते हुए यह तर्क दिया गया कि उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी के दौरान मुसलमानों के पास एक सुनहरा खुशनुमा अतीत था और उनके दिलोदिमाग पर शासक होने का खुमार छाया हुआ था। जबकि हिन्दुओं के पास दुख और अपमान की स्मृति थी और उनपर गुलामी का साया मंडरा रहा था। इसी क्रम में एक बात और कही जाती है कि भारत में राजनीति और राजनीतिक सत्ता धर्म पर आधारित रही है और शासकों के बीच भी यह धार्मिक भिन्नता रही है। इसलिए भारतीय राज्य की प्रकृति धर्म और खासतौर पर शासक के धर्म से निर्धारित होती रही है। यह भी कहा जाता है कि मध्ययुगीन राज्य का मुख्य उद्देश्य इस्लाम का प्रचार प्रसार करना था और इसका प्रमुख कारण राज्य की प्रकृति थी जिसके शासक मुसलमान थे। **कानपुर दंगा जांच समिति** की रिपोर्ट में यह बताया गया था कि सम्प्रदायवादी मुस्लिम शासकों को 'एक कट्टर और ईर्ष्या-द्वेष से युक्त धर्मयोद्धा मानते थे जिनका प्रमुख उद्देश्य इस्लाम का प्रचार करना था और इसके लिए वे मंदिरों को तोड़ते-फोड़ते थे और जबरन धर्मांतरण कराते थे। ....मुस्लिम लेखकों ने इस बात पर खेद प्रकट किया है कि मुसलमान राजाओं ने अपने शासन क्षेत्र में मूर्ति पूजा की इजाजत दी और काफिरों को पनपने का मौका दिया। इसी प्रकार हिन्दू लेखकों ने भी इसी बात पर दुख प्रकट किया कि हिन्दू शासकों में धार्मिक भावना की कमी थी और उनमें अपने धर्म और देश की रक्षा करने की भावना का अभाव था, उनमें देशभक्ति की कमी थी।'

इन्हीं कारणों से मराठा साम्राज्य और मराठा सरदारों, राजपूत राजाओं और जाट जमींदारों के स्वायत्त राज्यों को हिन्दू राज्य कहा गया जिन्होंने हिन्दू धर्म की रक्षा की। इसी प्रकार सम्प्रदायवादियों ने उन हिन्दू या मुसलमान राजाओं की निन्दा की और उन्हें बुरा शासक कहा जिन्होंने सम्प्रदायवाद का रास्ता नहीं अख्तियार किया। उन्हें अपने धर्म और समुदाय को धोखा देनेवाला भी करार दिया गया। इस बात को सिद्ध करने के लिए कभी सही और कभी काल्पनिक घटनाओं को प्रमाणस्वरूप सामने रखा गया। जैसा कि पहले बताया जा चुका है कि मध्ययुगीन आख्यानों और दरबारी कवियों के लेखन को कभी-कभी प्रमाणस्वरूप प्रस्तुत किया जाता था। गौरतलब है कि ये दरबारी अपने आश्रयदाताओं की सभी कार्रवाइयों को जायज ठहराने के लिए उसे धर्म का जामा पहना देते थे। इसी से उनकी रोजी-रोटी चलती थी।

सम्प्रदायवादियों ने संस्कृति की धर्म आधारित परिभाषा को आधार बनाया और इसमें उच्च वर्गों के धर्म को ही आधार बनाया गया। यह माना गया कि चूंकि हिन्दू धर्म और इस्लाम की

परिभाषाएं अलग-अलग थीं, उनके बीच न तो कोई साझा सांस्कृतिक आधार था न ही उनके बीच परस्पर संबंध। हिन्दू सम्प्रदायवादियों ने इस औपनिवेशिक धारणा को सीधे-सीधे अपना लिया और इसका प्रचार किया कि मुसलमान शासक और उनकी ओर से मुसलमानों ने मध्यकाल में हिन्दुओं को आतंकित कर रखा था। उन्होंने मध्ययुगीन भारतीय समाज की एक भयानक तस्वीर प्रस्तुत की जिस दौरान हत्या, बलात्कार और शोषण का लम्बा दौर चला। हिन्दू और हिन्दू धर्म के खिलाफ शत्रुतापूर्ण रवैया अपनाया गया, मंदिरों को तोड़ा गया, मुसलमान शासकों और उनके अधिकारियों ने जबरदस्ती लोगों का धर्म परिवर्तित किया और जोर जबरदस्ती करके इस्लाम को फैलाया। इस प्रकार की बातें गैर शैक्षिक पुस्तकों में की गई। उदाहरण के लिए 1939 में प्रकाशित एम.एस.गोलवलकर की पुस्तिका *हम या हमारे राष्ट्रत्व की परिभाषा (वी ऑर ऑवर नेशनहूड डिफाइन्ड)* में मुसलमानों को 'हत्यारा', 'लुटेरा', 'शत्रु', 'विध्वंसक', 'आक्रमणकारी' और 'कट्टर दुश्मन', 'हमारे पुराने शत्रु' कहकर संबोधित किया गया है। मुसलमानों के आतंक का चित्रण करते हुए इसे किसी खास शासक और शासक वर्ग की प्रवृत्ति की रूप में पेश नहीं किया गया है बल्कि इसे इस्लाम धर्म की विशिष्टता के रूप में पेश किया गया है। उदाहरण के लिए हिन्दू महासभा के एक नेता इंद्र प्रकाश ने 1942 में *व्हेयर वी डिफर* में लिखा है:

> 'मुस्लिम धर्म में हत्यारे की पूजा नायक की तरह की जाती है और उसे प्रशंसा की निगाह से देखा जाता है। इस धर्म में अनुयाइयों को दूसरे धर्मावलम्बियों के मारने के लिए प्रेरित किया जाता है। इस्लाम के अनुसार काफिर या दूसरे धर्मावलम्बियों की हत्या करने से हत्यारे का अपने समाज या समुदाय में मान बढ़ जाता है।' उसे शहीद माना जाता है और उसके लिए स्वर्ग का द्वार खुल जाता है।'

कानपुर दंगा जांच समिति की रिपोर्ट के निम्नलिखित दो अनुच्छेदों में 'मुस्लिम आतंक' और इस्लाम के साथ इसकी अभिन्नता के सिद्धांत को अच्छे ढंग से पेश किया गया है:

> 'मूर्तिभंजन और जबरन धर्मातरण को हमारे इतिहासों में बार-बार दोहराया गया और यह कहा गया कि हिंदुओं और मुसलमानों का यह धार्मिक संघर्ष आठ शताब्दियों पुराना है और यह आज भी जारी है। इसके राजनीतिक स्वरूप को समझनेवाले लेखकों ने भी विषय विश्लेषण इस रूप में किया कि कमोबेश दिमाग में इसी प्रकार की तस्वीर उभरती है।'
>
> 'इस्लाम के बारे में कई गलत धारणाओं में से एक गलत धारणा यह है और जो वैमनमस्य और कटुता का सबसे बड़ा कारण बनी हुई है कि इस्लाम धर्मार्थ और असहिष्णु होता है। इस्लाम का प्रसार तलवार के साए में हुआ है - इस सिद्धांत को इतने व्यापक पैमाने पर और लगातार फैलाया गया कि आम भारतीय नागरिक इस धर्म के बारे में ऐसा ही सोचता है। इस प्रकार की सोच से हिन्दू मुस्लिम समस्या और भी उलझ गई।'

इसी प्रकार पंजाब विश्वविद्यालय की परीक्षा में पूछे गए प्रश्नपत्र पर की गई टिप्पणी में यह कहा गया कि :

> 'जिन लोगों ने इतिहास के पर्चे जांचे हैं, उन्हें पता चल गया होगा कि किस प्रकार मुस्लिम शासकों और प्रशासकों को खूनी और बहशी के रूप में चित्रित किया गया है। आमतौर पर इससे यह बताने का प्रयास किया गया कि मुसलमान शासक हिन्दुओं और उनकी संस्कृति को नष्ट करने तथा तलवार के बल पर लोगों को इस्लाम कबूल कराने के लिए भारत आए थे।'

मुस्लिम सम्प्रदायवादियों ने मध्यकालीन मुस्लिम शासकों, सामंतों, खासतौर पर औरंगजेब जैसे शासकों, उसकी धर्मांधता, जजिया और मन्दिरों को ध्वस्त करने जैसे कार्यों को सही बताया। उनमें से बहुतों ने औरंगजेब को भारत में *दार-अल-इस्लाम* का निर्माता बताया। दूसरी ओर

उन्होंने इस्लाम को कमजोर करने के लिए अकबर की निन्दा की। भारत में 'इस्लामी विध्वंस' के सिद्धांत के जवाब में उन्होंने अंधविश्वास, जाति, अस्पृश्यता और असमानता से ग्रस्त हिन्दू समाज की तुलना में 'समतावादी' इस्लाम के लाभकारी परिणामों पर बल दिया। इसके अलावा भारतीय इतिहास संबंधी हिन्दू सम्प्रदायवादी दृष्टिकोण इस धारणा पर आधारित था कि प्राचीन काल में भारतीय समाज और संस्कृति – भारतीय सभ्यता – अपने उत्कर्ष पर थी और मुसलमानों के आक्रमण और आधिपत्य के परिणामस्वरूप मध्यकाल में इसका पतन हो गया। इस महानता और उत्कर्ष को साबित करने के लिए प्राचीन युग का महिमागान किया गया और इसे पवित्र माना गया। इसके किसी भी पक्ष की आलोचना बर्दाश्त नहीं की गई। इसके नकारात्मक से नकारात्मक पहलुओं को या तो नजरअंदाज किया गया या फिर उनका समर्थन करने की कोशिश की गई। भारतीय संस्कृति को प्राचीन संस्कृति से जोड़कर देखा गया और जिसे हिन्दू धर्म के संस्कृतवादी या ब्राह्मणवादी स्वरूप से जोड़कर देखा गया। इसीलिए गुप्त काल को भारत का स्वर्णयुग माना गया। सैन्य अभियानों, विजयों, मजबूत राजतंत्रों और साम्राज्य के विस्तार के आधार पर सभ्यता की महानता परिभाषित की गई। इसके अलावा प्राचीनता या पुरातनता के आधार पर सभ्यता की महानता आंकी गई। इसलिए सम्प्रदायवादियों ने आर्य सभ्यता के विश्व की सबसे पुरानी सभ्यता होने का दावा किया। इसे प्रमाणित करने के लिए वे वैदिक काल का समय कई शताब्दियों या सैकड़ों वर्ष पीछे ले गए।

भारतीय इतिहास के उत्थान और पतन का जिक्र करते हुए आमतौर पर यह कहा गया कि मध्यकाल में भारतीय सभ्यता और संस्कृति पतन के गर्त में चली गई। यह भी कहा गया कि मुस्लिम शासन के दौरान और इस्लाम धर्म के फलस्वरूप मध्यकाल के दौरान भारतीय समाज कई प्रकार के सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक पिछड़ेपन का शिकार हुआ। पूरे मध्यकाल को अंधकार युग कहा गया। एक दूसरी हिन्दू सम्प्रदायवादी मान्यता यह है कि सत्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध और आरंभिक अठारहवीं शताब्दी में 'हिन्दू पुनर्जागरण' हुआ। मराठाओं ने शिवाजी के नेतृत्व में विद्रोह किया और पेशवाओं के नेतृत्व में मराठा साम्राज्य की स्थापना की गई। इसी प्रकार कई राजपूत राजाओं ने औरंगजेब के खिलाफ बगावत की और मुगल वर्चस्व के खिलाफ सिख गुरूओं के संघर्ष को 'मुस्लिम वर्चस्व' के खिलाफ 'हिन्दू विद्रोह' कहा गया और यह बताया गया कि हिन्दुओं ने अपने सम्मान और गौरव की रक्षा करने के लिए संघर्ष किया। सम्प्रदायवादियों ने छोटे जमींदारों, राजाओं और मराठा सरदारों के राज्य और राजनीतिक सत्ता हासिल करने के लिए किए गए बगावत, विद्रोहों और संघर्षों को हिन्दू संघर्ष का नाम दिया और यह बताया कि उन्होंने हिन्दू राज्यों की स्थापना की। वी.डी. सावरकर ने 1923 में लिखा कि अठारहवीं शताब्दी के दौरान मराठा संघर्ष 'राष्ट्रीय मुक्ति का महान आंदोलन' था। उन्होंने लिखा:

> 'लगातार होनेवाले संघर्षों के कारण हमारे लोग अपने हिन्दू होने को पहचानने लगे और एक राष्ट्र के रूप में संगठित होने लगे। यह हमारे इतिहास की पहली ऐसी घटना थी। सनातनी, सतनामी, सिख, आर्य, अनार्य, मराठा मद्रासी ब्राह्मण और पंचम इन सबने हिन्दू के रूप में अत्याचार सहा और हिन्दू के रूप में ही विजय पताका लहराई। हमारे शत्रु हमसे हिन्दू के रूप में घृणा करते थे और अटक से लेकर कटक तक सभी जातियों और प्रजातियों के लोग पूरे परिवार सहित अचानक एक व्यक्तित्व के रूप में परिणत हो गए।'

मुस्लिम सम्प्रदायवादियों ने भी अपना स्वर्ण युग कायम किया। वे यह जानते थे कि भारत के मध्ययुगीन अतीत को महिमामंडित करना इतना आसान नहीं है और वे प्राचीन काल के 'हिन्दुओं' की प्रशंसा नहीं करना चाहते थे। इसलिए उन्होंने इस्लाम के 'स्वर्णयुग' अर्थात मध्ययुग के अरबी या तुर्की उपलब्धियों का दामन पकड़ा, मध्ययुगीन पश्चिम एशियाई इतिहास की सांस्कृतिक उपलब्धियों और नायकों की उंगली पकड़ी, और भारतीयता की अपेक्षा अपने मुसलमान होने पर बल दिया। मुस्लिम सम्प्रदायवादियों ने भी मुसलमानों के

उत्थान और पतन की अपनी परिभाषा प्रस्तुत की। उनके अनुसार ब्रिटिश शासन काल में हिन्दुओं का उत्थान हुआ और मुसलमानों का पतन। और वे एक भारतीय के रूप में नहीं बल्कि एक समुदाय के रूप में 'नष्ट' होते जा रहे थे क्योंकि उनके हाथ से सत्ता छिन गई थी। यह कहा गया कि उनकी सामाजिक स्थिति दयनीय हो गई थी और उनकी संस्कृति, धर्म और आर्थिक हित विनाश के कगार पर खड़े थे। वे लगातार कमजोर और असहाय होते जा रहे थे।

अल्ताफ हुसैन हाली इसे 'मुस्लिम विषाद का समय' मानते हैं। इस विचार का खूब दुष्प्रचार हुआ और मुस्लिम लीग के नेताओं ने पाकिस्तान की मांग के समर्थन में इसका राजनीतिक उपयोग किया। मुस्लिम लीग के एक प्रमुख प्रवर्तक जेड.ए.सुलेरी ने 1940 के दशक में लिखा कि मुसलमानों पर विलुप्त होने या नष्ट होने का खतरा मंडरा रहा है। उन्नीसवीं शताब्दी के अंत तक 'हिन्दू लगातार मजबूत, सुदृढ़ और शिक्षित होते जा रहे हैं। उन्हें नई सत्ता का संरक्षण प्राप्त है और वे समृद्ध होते जा रहे हैं। दूसरी ओर मुसलमान एक सदी के दमन के कारण हाशिए पर ठेल दिए गए हैं और उनकी स्थिति दयनीय हो गई है।'

21.4 राष्ट्रवादी और सम्प्रदायवादी इतिहास-लेखन का अन्तर

पेशेवर राष्ट्रवादी इतिहासकारों और कई आरंभिक राष्ट्रवादियों ने अप्रत्यक्ष रूप से सम्प्रदायवादी इतिहास-लेखन को बढ़ावा दिया। भारतीय जनता को प्रेरित करने के लिए उन्होंने नायकों की खोज की और उन्होंने मध्यकाल के उन व्यक्तित्वों को नायक के रूप में खड़ा किया जिन्होंने अपने राज्यों और क्षेत्रों की रक्षा के लिए और शोषण के खिलाफ लड़ाइयां लड़ीं। ऐसा उन्होंने इसलिए किया क्योंकि एक ओर वे अपने राष्ट्रवाद को अभिव्यक्त करना चाहते थे और दूसरी ओर शिक्षाविद और आरंभिक राष्ट्रवादी ब्रिटिश शासकों को नाराज भी नहीं करना चाहते थे। यदि शिक्षाविद उन व्यक्तित्वों को नायक के रूप में खड़ा करते जिन्होंने अंग्रेजों के खिलाफ लड़ाई लड़ी थी तो उन्हें अंग्रेजों का कोपभाजन बनना पड़ता। उदाहरण के लिए अंग्रेजों ने सिराज-उद-दौला, टीपू सुल्तान, तांत्या टोपे ओर झांसी की रानी के पक्ष में किए गए लेखन पर तुरंत प्रतिबंध लगा दिया। मैंने एक जगह पर इसे 'प्रच्छन्न' राष्ट्रवाद कहा है। दुर्भाग्यवश सम्प्रदायवादियों ने इस प्रच्छन्न राष्ट्रवाद का उपयोग भारतीय इतिहास संबंधी अपने दृष्टिकोण के प्रचार-प्रसार में किया। उन्होंने राणा प्रताप, शिवाजी, गुरू गोबिन्द सिंह की प्रशंसा इसलिए नहीं की कि उन्होंने शोषण के खिलाफ आवाज उठाई भी और अपनी जनता या क्षेत्र की रक्षा करने के लिए जी जान लगा दिया था या फिर इसलिए कि वे एक स्थानीय देशभक्त थे बल्कि उनकी प्रशंसा इसलिए की गई कि उन्होंने 'विदेशियों के खिलाफ लड़ाई लड़ी थी।' इसलिए उन्हें राष्ट्रनायक माना गया। परंतु मुगल विदेशी कैसे थे ? मुगलों को किसी भी परिभाषा के तहत विदेशी नहीं माना जा सकता। केवल मुसलमान होने के कारण ही उन्हें विदेशी कहा गया। गौरतलब है कि राष्ट्रवादियों ने न केवल राणा प्रताप, शिवाजी और गुरु गोबिन्द सिंह को राष्ट्रनायक घोषित किया बल्कि अशोक, अकबर, टीपू सुल्तान, झांसी की रानी और अन्य उन सभी हिन्दू या मुसलमानों को नायक के रूप में खड़ा किया जिन्होंने 1857 में अंग्रेजों के खिलाफ तलवार उठाई थी। बाद में खुदी राम बोस, लोकमान्य तिलक, मौलाना अबुल कलाम आजाद, महात्मा गांधी, जवाहरलाल नेहरू, सुभाष बोस, खान अब्दुल गफ्फार खान, भगत सिंह और चन्द्र शेखर आजाद राष्ट्रवादियों के नायक बने।

अतीत की व्याख्या करने में राष्ट्रवादी और सम्प्रदायवादी एक और मामले में एक दूसरे से अलग हैं। राष्ट्रवादियों ने प्राचीन भारतीय समाज, राजनीति और संस्कृति को सकारात्मक रूप में देखा है और उसकी प्रशंसा की है परंतु इसके साथ उन्होंने मध्यकाल का भी सकारात्मक चित्र प्रस्तुत किया है और इसके साथ-साथ प्राचीन और मध्ययुग दोनों के नकारात्मक पहलुओं की आलोचना भी की है। राष्ट्रवादियों ने लोगों में राष्ट्रीय स्वाभिमान और आत्मगौरव पैदा करने के लिए अतीत का गुणगान किया। उन्होंने अपने इस प्रयास के द्वारा उस उपनिवेशवादी स्कूल से लोहा लिया जिसमें भारतीय परम्परा को नीचा दिखाने की कोशिश की गई थी और निर्भरता

तथा छोटे होने की मानसिकता का प्रतिकार करने के लिए उन्होंने यह रास्ता अपनाया। हिन्दू सम्प्रदायवादियों ने मध्यकाल में आई गिरावट और पतन को दिखाने के लिए अतीत का गौरवगान किया और उसे सामने रखा और इस प्रकार मुसलमान विरोधी भावना को भड़काया। राष्ट्रवादी यह बताने के लिए अतीत की ओर गए कि भारत में काफी पहले से लोकतंत्र मौजूद था और इसलिए भारत आधुनिक संसदीय लोकतंत्र, आधुनिक नागरिक और राजनीतिक अधिकारों, चुनाव के द्वारा लोकप्रिय सरकार के गठन और स्वशासन के बिलकुल काबिल था। के. पी. जयसवाल, पी. एन. बनर्जी, बी. के. सरकार, यू. एन. घोसाल, डी.आर. भंडारकर और यहां तक कि आर. सी. मजूमदार जैसे राष्ट्रवादियों ने आरंभ में प्राचीन भारतीय राजनीतिक व्यवस्था और सामाजिक जीवन के लोकतांत्रिक, संवैधानिक, गैर निरंकुश और यहां तक कि गणतंत्रीय, गैर धार्मिक और धर्म निरपेक्ष तथा तर्कसंगत तत्वों को रेखांकित किया। इस प्रकार राष्ट्रवादियों ने साम्राज्यवादी शक्तियों से लड़ने के लिए प्राचीन भारतीय समाज का गौरव गान किया और इसका उपयोग उनके खिलाफ हथियार के रूप में किया। अवैज्ञानिक विशिष्टताओं से युक्त होने और बहुभाषीय, बहुसांस्कृतिक, बहुधार्मिक और बहुजातीय देश में इसके दुरूपयोग की संभावनाओं के बावजूद इसमें कुछ खास ऐतिहासिक प्रगतिशील तत्व शामिल थे। इसके अलावा राष्ट्रवादियों ने मूल्यांकन के लिए और अपने विचारों के विकास के लिए वैज्ञानिक मानदंड अपनाया दूसरी ओर सम्प्रदायवादियों ने साम्प्रदायिक भावनाओं को पनपाने और मजबूत बनाने के लिए अतीत का सहारा लिया। उन्होंने प्राचीन भारतीय समाज और राजनीति तथा सामाजिक व्यवस्था की नकारात्मक प्रवृत्तियों की भी प्रशंसा की और इसके लिए उनकी आलोचना भी हुई। वे इसके किसी भी पक्ष का वैज्ञानिक मंथन या आलोचना बर्दाश्त नहीं कर सकते थे।

सम्प्रदायवादियों ने उपनिवेशवाद की भूमिका को दरकिनार किया और दूसरे राजनीतिक समुदाय से संबंध स्थापित करने के नकारात्मक प्रभाव पर अधिक बल दिया। वे आमतौर पर राष्ट्रीय आंदोलन और धर्म निरपेक्षता से सहमत नहीं थे और इसकी आलोचना करते थे। एक ओर जहां हिन्दू सम्प्रदायवादियों ने इसे मुस्लिम समर्थक और कम से कम 'मुस्लिम तुष्टिकरण' माना वहीं मुस्लिम सम्प्रदायवादियों ने इसे मुसलमान विरोधी या कम से कम हिन्दुओं के नियंत्रण में माना और इस प्रकार इसे हिन्दू वर्चस्व के एक औजार के रूप में देखा गया। हिन्दू सम्प्रदायवादी खासतौर पर उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के नरमपंथी राष्ट्रवादियों के आलोचक थे जिन्होंने उपनिवेशवाद की आर्थिक आलोचना की और आधुनिक धर्म निरपेक्षता की आधारशिला रखी। उपनिवेशवाद की आलोचना करते हुए मुख्यतौर पर दोनों धर्म से जुड़े सम्प्रदायवादियों ने उपनिवेशवाद की एक स्वर में इसलिए आलोचना की क्योंकि उन्होंने तर्कसंगतता और विज्ञान और वैज्ञानिकता के तर्क के दृष्टिकोण पर आधारित आधुनिकता या आधुनिक चिंतन की शुरुआत की।

सम्प्रदायवादियों ने राष्ट्रवाद को आर्थिक या राजनीतिक संदर्भ में नहीं बल्कि सांस्कृतिक संदर्भ में परिभाषित किया। यानी हिन्दू या मुसलमान संस्कृति पर आधारित सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के रूप में इसे सामने रखा। इसके परिणामस्वरूप उन्होंने दादाभाई नौरोजी, रानाडे और सुरेन्द्रनाथ बनर्जी जैसे आरंभिक राष्ट्रीय नेताओं से नहीं बल्कि बंकिम चंद्र और स्वामी दयानन्द और सैयद अहमद खान से आधुनिक राष्ट्र की शुरुआत मानी।

21.5 सम्प्रदायवादी इतिहास-लेखन की आलोचना

यदि इतिहास का अध्ययन व्यापक फलक पर किया जाए तो फिर सम्प्रदायिक दृष्टि के लिए कोई स्थान नहीं रह जाएगा। उदाहरण के लिए आर्थिक इतिहास के अध्ययन में एक हिन्दू किसान एक मुसलमान किसान के ज्यादे करीब होगा बजाय एक हिन्दू जमींदार या महाजन के। आगरा में रहनेवाला एक मुसलमान बुनकर सामंत या बादशाह की अपेक्षा एक सामान्य हिन्दू बुनकर के ज्यादा करीब होगा। दूसरे शब्दों में समाज का विभाजन उत्पादन करनेवाले

लोगों और इसके अधिशेष पर पलनेवाले लोगों में विभाजित होता है जिसमें इस आर्थिक विभाजन रेखा के दोनों ओर कई धार्मिक समुदाय के लोग रहते हैं।

सामाजिक और आर्थिक इतिहास से यह स्पष्ट होता है कि सुल्तानों या मुगलों के शासन काल में किसी प्रकार का मुस्लिम शासन नहीं था। सभी मुसलमान शासकीय वर्ग में और सभी हिन्दू शासित वर्ग में शामिल नहीं थे। हिन्दू जनता की तरह मुसलमान जनता भी गरीब और शोषित थी। हिन्दू या मुसलमान शासक, सामंत, जमींदार इन्हें नीची निगाह से देखते थे। सामाजिक इतिहास से यह पता चलता है कि यदि हिन्दू जातियों में विभाजित थे तो मुसलमानों में शरीफ मुसलमान अपने को अजलफ या निम्न वर्ग के मुसलमान से श्रेष्ठ मानते थे। प्रशासन के इतिहास को देखने से पता चलता है कि मुगलों और मराठों के प्रशासनिक ढांचे में एक निरंतरता थी। इसके अलावा और भी कई समानताएं देखने को मिलती हैं। इससे यह पता चलता है कि प्राचीन या मध्यकालीन राज्यों को हिन्दू या मुसलमान करार देना कितना गलत है। सामाजिक और सांस्कृतिक इतिहास यह बताते हैं कि प्राचीन या मध्यकालीन भारत में सांस्कृतिक सहयोग और सौहार्द का परिवेश कायम था और एक सामासिक संस्कृति का अभ्युदय हुआ था। इससे यह भी पता चलता है कि आधुनिक काल के समान ही मध्यकाल मे उच्च वर्ग के मुसलमान सांस्कृतिक रूप से निम्न वर्ग के मुसलमानों की अपेक्षा उच्च वर्ग के हिन्दुओं के ज्यादा करीब थे। इसी प्रकार एक पंजाबी हिन्दू सांस्कृतिक दृष्टि से बंगाली हिन्दू की अपेक्षा पंजाबी मुसलमान के ज्यादा करीब होगा। सामाजिक और सांस्कृतिक इतिहास से यह भी पता चलता है कि धर्म के अलावा सामाजिक विभाजन और विविधताओं के कई आधार मौजूद हैं, मसलन पंथ या जाति। अठारहवीं शताब्दी में दक्षिण भारत में दाहिने हाथ की जातियों और बाएं हाथ की जातियों में भीषण संघर्ष हुआ करता था। क्या इसे द्विराष्ट्र के सिद्धांत के रूप में व्याख्यायित करना उचित है ? राजनैतिक इतिहास का सावधानीपूर्वक अध्ययन करने से पता चलता है कि न केवल भारत में बल्कि पूरी दुनिया में राजनीति धर्म से नहीं बल्कि आर्थिक और राजनीतिक स्वार्थों से परिचालित होती है। आज ही की तरह शासक और बागी दोनों अपने भौतिक हितों और महत्वाकांक्षाओं को छिपाने के लिए इसे धार्मिक रंग दे देते हैं।

महत्वपूर्ण बात यह है कि राजनीतिक घटनाओं और आंदोलनों को उनके बुनियादी सामाजिक और आर्थिक माहौल में देखना चाहिए। हमें यह सवाल पूछना चाहिए कि किसी राजनीतिक व्यवस्था में निर्णय कौन करता है, किसका वर्चस्व है और किसे इसका लाभ मिलता है? कैसे एक व्यवस्था काम करती है ? किस प्रकार एक प्रकार की नीतियों का पालन होता है दूसरी की नहीं ? उदाहरण के लिए किसानों या व्यापारियों या बैंकरों के प्रति औरंगजेब और शिवाजी की नीतियों की तुलना की जा सकती है। इसी प्रकार यह भी देखा जा सकता है कि प्राचीन या मध्यकालीन भारत की राज्य व्यवस्थाओं में किस प्रकार प्राचीन या मध्यकालीन भारत में या राणा प्रताप के राज्य विभिन्न सामाजिक वर्गों और समूहों के बीच आर्थिक लाभ, सामाजिक सम्मान और राजनीतिक सत्ता बंटी हुई थी। तुर्कों या बाद में मुगल शासकों ने मौजूदा राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक शक्तियों को किस हद तक बदलने की कोशिश की? इसी प्रकार यह तथ्य कि 1901 में राजपुताना में राजपूतों की आबादी मात्र 6.4 प्रतिशत थी, से भी काफी बातों का पता चलता है। इसी प्रकार आधुनिक राजनीतिक आंदोलनों के सामाजिक विश्लेषण से यह पता चलता है कि हिन्दू और मुसलमान सम्प्रदायवादियों का सामाजिक आधार समान था। इसके अलावा उनका साम्राज्यवाद के प्रति राजनीतिक दृष्टिकोण भी एक जैसा था।

21.6 सारांश

अंत में यह कहा जा सकता है कि इतिहास के वैज्ञानिक अध्ययन से यह बात साबित की जा सकती है कि इतिहास के प्रति सम्प्रदायवादी दृष्टिकोण विश्लेषणात्मक और तथ्यात्मक दृष्टि

से गलत है और यह भी कि यह सम्प्रदायवादी दृष्टिकोण अवैज्ञानिक राजनीति का प्रतिफलन था और जिसे विदेशी शासकों ने बोया और बाद में सम्प्रदायवादियों ने अपने राजनीतिक उद्देश्यों के लिए सींचा। उपनिवेशवादी इतिहासकारों और व्याख्याकारों ने भारतवासियों के बारे में जो दृष्टिकोण निर्मित किया था उसी को इसमें आधार बनाया गया था। इसमें भारतीय इतिहास को धार्मिक आधार पर विभाजित किया गया था जिसमें प्राचीन भारत हिन्दुओं के हवाले और मध्यकाल मुसलमानों के हवाले कर दिया गया था। हिन्दू और मुसलमान दोनों तरह के सम्प्रदायवादी इतिहासकारों और राजनीतिज्ञों ने भारतीय अतीत की इस व्याख्या को स्वीकार किया था और इसके आधार पर उन्होंने अपना एक मनगढ़ंत विचार गढ़ा था कि शताब्दियों से हिन्दू और मुसलमान आपस में लड़ते आए हैं। इतिहास के प्रति इस प्रकार का दृष्टिकोण भारतवासियों के बीच सामाजिक तनाव और वैमनस्य बढ़ाने के लिए जिम्मेवार है।

21.7 अभ्यास

1) सम्प्रदायवादी इतिहास-लेखन की मुख्य विशेषताएं बताइए।

2) राष्ट्रवादी और सम्प्रदायवादी इतिहास-लेखन का फर्क बताइए।

3) सम्प्रदायवादी और उपनिवेशवादी इतिहास दृष्टि के बीच संबंध स्थापित कीजिए।

इकाई 22 मार्क्सवादी दृष्टिकोण

इकाई की रूपरेखा

22.1 प्रस्तावना

आजादी के बाद भारत में जो इतिहास-लेखन हुआ उस पर मार्क्सवाद का प्रभाव स्पष्ट है। कई इतिहासकार तो सीधे-सीधे इस धारा में प्रशिक्षित थे और कुछ इससे प्रभावित। किसी न किसी रूप में भारतीय इतिहास-लेखन की अधिकांश प्रवृत्तियों को इसने प्रभावित किया। इसलिए इससे जुड़े सभी इतिहासकारों और इतिहास-लेखन की धाराओं को समेटना यहां मुश्किल है। फिर भी, इस इकाई में भारतीय इतिहास-लेखन की मार्क्सवादी परम्परा के कुछ प्रमुख इतिहासकारों और इतिहास-लेखन की कुछ महत्वपूर्ण प्रवृत्तियों की चर्चा की जा रही है।

22.2 आरंभ

भारत में मार्क्सवादी इतिहास-लेखन की शुरुआत रजनी पाम दत्त की पुस्तक *इंडिया टुडे* (आज का भारत) और ए.आर.देसाई की पुस्तक *सोशल बैकग्राउंड ऑफ इंडियन नेशनलिज्म* से मानी जा सकती है। *इंडिया टुडे* का लेखन इंगलैंड के प्रसिद्ध लेफ्ट बुक क्लब के लिए किया गया था और 1940 में विक्टर गोलैंज ने इसे प्रकाशित किया था। 1947 में इसका भारतीय संस्करण निकला। 1970 में किताब के नए संस्करण की प्रस्तावना में लेखक ने इसकी सीमाओं का उल्लेख करते हुए लिखा है कि इस पुस्तक को 'अपने समय की ऐतिहासिक कृति के रूप में ही देखा जाए जिसमें भारत में अंग्रेज शासन और भारतीय जनसंघर्ष के सतत विकास को मार्क्सवादी दृष्टि से देखा गया है। इस जनसंघर्ष में राष्ट्रीय आंदोलन और मजदूरों का आंदोलन भी शामिल है। इसमें आजादी प्राप्त होने तक का ब्योरा शामिल है और यह उस समय का नजरिया है।' इन सीमाओं के बावजूद भारतीय इतिहास की मार्क्सवादी चिंतन के आधारग्रंथ के रूप में आज भी इसकी महत्ता कम नहीं हुई है। इसमें व्यापक पैमाने पर औपनिवेशिक शासनकाल में भारतीय समाज, अर्थव्यवस्था और राजनीति की चर्चा की गई है। इसमें औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था, किसानों की समस्या, राष्ट्रीय आंदोलन और साम्प्रदायिक समस्याओं का मार्क्सवादी विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है।

कई स्तरों पर मार्क्सवादी व्याख्या ने भारत पर औपनिवेशिक शासन के आर्थिक प्रभाव के राष्ट्रवादी आलोचना को मजबूती प्रदान की है। इस मुद्दे पर मार्क्स की टिप्पणी का अनुगमन करते हुए हालांकि मार्क्सवादी आलोचकों ने औपनिवेशिक शासन की निर्मम आलोचना की है, परंतु वे उपनिवेशवाद को 'विनाशक' के साथ साथ 'पुनरूद्धारक' शक्ति भी मानते हैं। लेकिन दत्त यह स्पष्ट कर देते हैं कि उपनिवेशवाद की पुनरूद्धारक भूमिका बहुत सीमित थी और उसी समय में स्थिति बिल्कुल विपरीत हो गई:

> 'दुनिया भर में फैले पूंजीवाद के तर्ज पर भारत में स्थापित साम्राज्यवादी शासन की प्रगतिशील या पुनद्धारक भूमिका जिसका संबंध मुक्त व्यापार पूंजीवाद से था, अब लुप्त हो चुकी है। और आज यह भारत की सबसे ताकतवर प्रतिक्रियावादी शक्ति है जिसने भारत में मौजूद प्रतिक्रयावादी शक्तियों को मजबूत बनाया है।'

दत्त ने सीधे तौर पर देश की गरीबी के लिए उपनिवेशवाद और पूंजीवाद को जिम्मेदार ठहराया है। अंग्रेजों के आने के बाद ही देश के संसाधनों की लूट शुरु हो चुकी थी और इसका उपयोग ब्रिटेन और यूरोप के देश के पूंजीवादी विकास के लिए धन मुहैया कराने हेतु किया गया:

> 'पश्चिमी सभ्यता की भारत विजय यूरोप में पूंजीवादी विकास, दुनिया भर में अंग्रेजों के दबदबे और आधुनिक साम्राज्यवाद के सम्पूर्ण ढांचे के विकास का प्रमुख आधार स्तंभ बना। दो शताब्दियों तक यूरोप का इतिहास काफी हद तक भारत पर अंग्रेजों के आधिपत्य से परिचालित होता रहा।'

दत्त ने भारत में साम्राज्यवादी शासन के सम्पूर्ण काल को तीन चरणों में विभक्त किया है; इसमें थोड़ा बहुत हेर-फेर करके अब खासतौर पर मार्क्सवादी दृष्टिकोणों के बीच पहले चरण को व्यापारिक पूंजीवाद का चरण कहा गया 'जिसका प्रतिनिधित्व ईस्ट इंडिया कम्पनी ने किया और अठारहवीं शताब्दी तक यह जारी रहा।' इसके बाद औद्योगिक पूंजीवाद का पदार्पण हुआ 'जिसने उन्नीसवीं शताब्दी में भारत के शोषण के नए आधार स्थापित किए।' तीसरे चरण को वित्तीय पूंजीवाद कहा गया जिसकी शुरुआत उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम वर्षों में हुई और बीसवीं शताब्दी तक यह फलता-फूलता रहा।

व्यापारिक पूंजीवाद के दौर में भारतीय व्यापार पर ईस्ट इंडिया कम्पनी का एकाधिकार स्थापित हो गया। इसके साथ ही साथ अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में अंग्रेजों का क्षेत्रीय नियंत्रण भी बढ़ता चला गया। इस एकाधिकारपूर्ण नियंत्रण के साथ-साथ औपनिवेशिक राज्य ने प्रत्यक्ष तौर पर भारत से धन लूटना शुरु किया। इस लूट में कम्पनी के नौकरों ने भी निजी तौर पर भी खूब लूट मचाई। इस लूट से अर्जित अपार धन को इंगलैंड भेजा गया जिससे वहां औद्योगिक क्रांति संभव हुई। इसके बाद इंगलैंड के कारखानों में तैयार सामान को बेचने के लिए बाजार की खोज की जाने लगी और 'भारत, जो कभ्री पूरी दुनिया को सूती कपड़ा मुहैया कराया करता था, सूती कपड़ों का आयातक बन गया।' इसके बाद ईस्ट इंडिया कम्पनी के एकाधिकार को हटाने की बात की जाने लगी और 1858 के बाद ऐसा हो भी गया। भारत का शासन इंगलैंड के सम्राट के पास चला गया। इसके बाद भारत के बाजार इंगलैंड के सामानों से पट गए।

प्रथम विश्व युद्ध (1914-1918) के बाद भारत में साम्राज्यवाद का एक नया दौर शुरू हुआ। 'नजराना' वसूल करने के पुराने तौर तरीके तो जारी रहे ही और भारत इंगलैंड के सामानों का बाजार भी बना रहा परंतु इसके साथ-साथ भारत में पूंजी निवेश पर भी बल दिया जाने लगा। दत्त ने बताया कि '1914 तक यह स्पष्ट हो चुका था कि व्यापार, विनिर्माण और जहाजरानी से हुए कुल मुनाफे की अपेक्षा निवेशित की गई पूंजी और सीधे तौर पर वसूले गए नजराने का मुनाफा और ब्याज कहीं ज्यादा था। *बीसवीं शताब्दी के दौरान भारत का*

वित्तीय पूंजीवाद शोषण की एक प्रमुख प्रवृत्ति बन गई थी।' उन्होंने वित्तीय पूंजी के बढ़ते शिकंजे और मात्रा पर टिप्पणी करते हुए उन्होंने निष्कर्ष दिया कि :

> 'आधुनिक साम्राज्यवाद अब भारत में आरंभिक पूंजीवादी आधिपत्य की वस्तुनिष्ठ क्रांतिकारी भूमिका नहीं निभा रहा है बल्कि इसका विनाशकारी प्रभाव सामने आ रहा है और शोषण के नए हथियार सामने आ रहे हैं। भारत में आधुनिक साम्राज्यवाद उत्पादक शक्तियों के विकास में प्रमुख बाधा है, उसका वित्तीय और राजनीतिक आधिपत्य इनके विकास को अवरुद्ध कर रहा है। अब भारत में पूंजीवादी शासन की वस्तुनिष्ठ क्रांतिकारी भूमिका की चर्चा अनावश्यक है। भारत में आधुनिक साम्राज्यवाद की भूमिका पूरी तरह प्रतिक्रियावादी है।'

दत्त ने भारतीय राष्ट्रवाद पर भी अपने विचार प्रस्तुत किए हैं। 1857 की क्रांति के संबंध में वे लिखते हैं कि 'इस क्रांति में नेतृत्व रूढ़िवादी और सामंती ताकतों तथा गद्दी से हटाए गए असंतुष्ट लोगों के हाथ में था।' इस मत का समर्थन कई मार्क्सवादी इतिहासकारों ने भी किया है। अतएव दत्त उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम दौर से भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन की शुरुआत मानते हैं।

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस इस आंदोलन का प्रमुख संगठन था जिसकी स्थापना 1885 में हुई थी। दत्त के अनुसार हालांकि कांग्रेस ने पहले से घट रही घटनाओं और भारतीय मध्यवर्ग के उदय के फलस्वरूप आकार ग्रहण किया था परंतु आरंभ में कांग्रेस की स्थापना ब्रिटिश अधिकारियों के जरिए असंतोष को कम करने के लिए किया गया था। दत्त ने विस्तार से ह्यूम की भूमिका और आसन्न बगावत के प्रति उसकी चेतावनी का खुलासा किया है। इसके बाद ह्यूम ने औपनिवेषिक सरकार के अधिकारियों से मुलाकात की और अंग्रेज शासन के खिलाफ किसी भी प्रकार के विद्रोह की इस आशंका को टालने के लिए कांग्रेस की स्थापना की अनुमति देने का आग्रह किया। अतएव दत्त इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि

> 'राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना वस्तुतः अंग्रेज सरकार की पहल और उनकी नीतियों के निर्देशन में हुई। इसके लिए वायसराय के साथ एक गुप्त योजना बना ली गई थी जिसका उद्देश्य जन असंतोष और ब्रिटिश विरोधी भावना को रोकना था।'

परंतु जनवादी राष्ट्रीय भावनाओं के दबाव में कांग्रेस की प्रकृति बदलने लगी। इसलिए 'शुरु से ही कांग्रेस का राष्ट्रीय चरित्र उभरने लगा और अंग्रेज राज के प्रति इसके निष्ठावान चरित्र पर हावी होने लगा'। हालांकि आरंभ में बड़े ही सीमित रूप में और सावधानी से कदम आगे बढ़ाया गया। धीरे-धीरे यह एक मजबूत उपनिवेश विरोधी ताकत के रूप में उभरी और इसने औपनिवेशिक शासन के खिलाफ जनांदोलन को नेतृत्व दिया। दत्त ने वर्षों से चले आ रहे विभिन्न वर्गों के आधार पर राष्ट्रवाद का विश्लेषण किया। इस प्रकार 'भारतीय राष्ट्रवाद के आंरभ में केवल उच्च्च बुर्जुआ वर्ग प्रगतिशील भूमिपति, या औद्योगिक बुर्जुआ और सम्पन्न बुद्धिजीवी शामिल हुए।' इसके बाद शहरी मध्यवर्गीय या बुर्जुआ का आगमन हुआ जिसने प्रथम विश्वयुद्ध के ठीक पहले अपनी आकांक्षाओं को वाणी दी। युद्ध के बाद ही भारतीय जनता अर्थात, किसान और औद्योगिक मजदूर वर्ग इस आंदोलन में शामिल हुए।

परंतु नेतृत्व अमीरों के हाथ में रहा जिनका कांग्रेस पर दबदबा था। ये तत्व किसी भी बड़े परिवर्तन के खिलाफ थे और जब-जब उन्हें यह लगा कि यह आंदोलन उनके लिए खतरनाक साबित हो रहा है तब-तब अपने हित में उन्होंने इसे टालने की कोशिश की। गांधी जी की उन्होंने खासतौर पर आलोचना की जिन्हें उन्होंने 'क्रांति के कातिल, निरंतर आपदाओं के महारथी......... बुर्जुआ का मुखौटा' कहा क्योंकि जनांदोलन का नेतृत्व अपने हाथ में रखने के लिए उन्होंने क्रांतिकारी शक्तियों को तवज्जो नहीं दी। इसलिए असहयोग आंदोलन वापस ले लिया गया क्योंकि जनता हिंसक हो उठी थी और कांग्रेस के भीतर और बाहर का अमीर वर्ग घबरा गया था :

'गांधी के नेतृत्व में कांग्रेस ने आंदोलन वापस ने लिया क्योंकि वे जनता के आक्रोश से डर गए थे; वे जनता के आक्रोश से इसलिए भी डरे हुए थे क्योंकि इससे अमीर वर्ग के हितों को नुकसान पहुंच सकता था और कांग्रेस का हित अमीर वर्ग के हित से जुड़ा हुआ था।'

नागरिक अवज्ञा आंदोलन का भी यही हश्र हुआ। 1932 में 'जब यह अपने ऊफान पर था तो इसे अचानक और रहस्यात्मक ढंग से वापस ले लिया गया।' दत्त का मानना है कि कांग्रेस का यह दोमुहां चरित्र इसकी प्रकृति और स्वभाव का एक हिस्सा था :

'स्थानीय कांग्रेस का यह दोमुहां चरित्र इसके स्वभाव में ही निहित था और यह पूरे इतिहास के दौरान परिलक्षित होता है। पूरे इतिहास में इसके दो चेहरे बने रहे। एक ओर जनांदोलन के 'जोखिम' के खिलाफ साम्राज्यवाद के साथ सहयोग और दूसरी ओर राष्ट्रीय आंदोलन में जनता को नेतृत्व देना। यह दोहरा चरित्र गोखले से लेकर गांधी तक के नेतृत्व में देखने को मिलता है यह भारतीय बुर्जुआ वर्ग के दोमुहेपन को प्रतिबिंबित करता है। ये भारतीय जनता को नेतृत्व भी देना चाहते थे और उन्हें इस बात का डर भी लगा रहता था कि यदि जनता तेजी से आगे बढ़ी तो साम्राज्यवादियों के साथ-साथ उनके विशेषाधिकार भी समाप्त हो जाएंगे।'

भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन के प्रमुख संगठन भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के संबंध में काफी दिनों तक मार्क्सवादी इतिहास-लेखन का यह आधारभूत वक्तव्य बना रहा। राष्ट्रवाद पर काम करनेवाले बाद के मार्क्सवादी इतिहासकार काफी हद तक इसके प्रभाव में रहे।

ए. आर. देसाई ने अपनी पुस्तक *सोशल बैकग्राउंड ऑफ इंडियन नेशनलिज्म* (यह बड़ी प्रसिद्ध और लोकप्रिय पुस्तक है और इसके कई संस्करण निकल चुके हैं और इसका कई बार पुनर्मुद्रण भी हो चुका है। यह पुस्तक पहली बार 1948 में प्रकाशित हुई थी। कई भारतीय भाषाओं में इसका अनुवाद भी हो चुका है।) में भी औपनिवेशिक काल का जायजा लिया है और मार्क्सवादी परिप्रेक्ष्य में राष्ट्रवाद के उदय को विश्लेषित गया है। 2000 के नए संस्करण में सुमित सरकार ने इसकी प्रस्तावना में लिखा है कि :

'पचास वर्षों से इस पुस्तक ने पूरे देश के विद्यार्थियों की कई पीढ़ियों को आधुनिक भारतीय इतिहास से परिचित कराया है और यह मार्क्सवादी ऐतिहासिक प्रविधि का सहज सम्प्रेषणीय नमूना है।'

इस पुस्तक में औपनिवेशिक भारत की अर्थव्यवस्था, समाज और राजनीति का सूक्ष्म विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है। इसमें मुख्य रूप से भारत के राष्ट्रवाद के उदय पर विचार किया गया है। देसाई ने पांच चरणों में राष्ट्रीय आंदोलन का विकास दिखाया है। प्रत्येक चरण इस आंदोलन को समर्थन और चलानेवाले सामजिक वर्गों पर आधारित है। इसलिए पहले चरण में यह बताया गया है कि भारतीय राष्ट्रवाद का सामाजिक आधार काफी संकीर्ण था। इसकी शुरुआत बुद्धिजीवी वर्ग ने की थी जो आधुनिक शिक्षा प्रणाली की उपज थी। देसाई ने राजा राममोहन राय और उनके अनुयाइयों को भारतीय राष्ट्रवाद क. अगुआ कहा है। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना (1885) तक यह दौर चलता रहा। इसने नए दौर की शुरुआत की जो 1905 तक चली। यह राष्ट्रीय आंदोलन भारत में नए बुर्जुआ समाज के हित से जुड़ा हुआ था। आधुनिक शिक्षा के विकास से एक शिक्षित मध्यवर्ग का जन्म हुआ और भारतीय तथा अन्तरराष्ट्रीय व्यापार के विकास से व्यापारी वर्ग उदित हुआ। आधुनिक उद्योगों से उद्योगपतियों का वर्ग बना। नए चरण में भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन ने 'शिक्षित वर्गों और व्यापार से जुड़े बुर्जुआ वर्ग के हितों से जुड़ी मांगों को सामने रखा। मसलन, सेवाओं का भारतीयकरण, राज्य के प्रशासनिक तंत्र से भारतीयों को जोड़ना, देश से धन बाहर जाने से रोकना, और इसी प्रकार की मांगों को भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की उद्घोषणाओं में शामिल किया गया।'

तीसरे चरण में भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन का दौर 1905 से 1918 तक चला। इस दौरान 'भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन के तेवर तीखे और चुनौतीपूर्ण हुए और इसमें निम्न मध्यवर्ग के शामिल होने से इसका सामाजिक आधार व्यापक बना चौथे चरण में, जो कि 1918 से शुरू हुआ और 1934 के नागरिक अवज्ञा आंदोलन के अंत तक चला, राष्ट्रीय आंदोलन का आधार तेजी से बढ़ा। यह आंदोलन 'जो अभी तक उच्च और मध्य वर्ग तक सीमित था, धीरे-धीरे यह भारतीय जनता तक पहुंचने लगा।' पंरतु देसाई का यह मानना था कि कांग्रेस का नेतृत्व उन लोगों के हाथ में रहा जो भारतीय पूंजीपति वर्ग से प्रभावित थे।

> '1918 के बाद से भारतीय औद्योगिक बुर्जुआ वर्ग ने गांधी के नेतृत्व में कांग्रेस द्वारा चलाए जा रहे भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन के कार्यक्रम, नीतियों, रणनीतियों, योजनाओं और संघर्ष के तौर तरीकों को जबरदस्त रूप से प्रभावित किया'।

इस दौरान दो प्रमुख घटनाएं घटीं। 1920 के दशक के अंत में इस अवधि मे साम्यवादियों और समाजवादी समूहों का उदय हुआ जिन्होंने राष्ट्रीय कार्यसूची में जनहित के मामले भी रखे। दूसरी ओर इस दौरान सम्प्रदायवादी ताकतों का सशक्तीकरण हुआ जिन्होंने समाज को बांटने का प्रयास किया।

पांचवे चरण (1934-39) के दौरान कांग्रेस के भीतर गांधीवादी स्कूल से मोहभंग होने लगा और इसमें एक समाजवादी धारा विकसित हुई जो छोटे बुर्जुआ तत्व का प्रतिनिधित्व करती थी। कांग्रेस के बाहर तरह-तरह के आंदोलन चलने लगे। किसान, मजदूर, शोषित वर्ग और कई भाषाई जातीय समूह अपनी-अपनी मांग के लिए आंदोलन करने लगे। इसके साथ-साथ साम्प्रदायिकता तेजी से बढ़ी। देसाई के अनुसार इन सब छिटपुट घटनाओं का कोई खास असर नहीं हुआ और मुख्य धारा गांधी के नेतृत्ववाली कांग्रेस के साथ रही जो बलशाली वर्ग के हितों का प्रतिनिधित्व करती थी।

इन दोनों पुस्तकों, खासतौर पर रजनी पाम दत्त की पुस्तक से आधुनिक भारतीय इतिहास के मार्क्सवादी इतिहास-लेखन की आधारशिला रखी गई। अगला मोड़ डी.डी. कोसाम्बी की रचनाओं द्वारा आया जिसकी चर्चा हम अगले भाग में करेंगे।

22.3 डी.डी. कोसाम्बी और नया दृष्टिकोण

रोमिला थापर के अनुसार डी.डी.कोसाम्बी (1907-66) ने भारतीय इतिहास के अध्ययन में एक नई परम्परा का सूत्रपात किया। उनके अनुसार इसके पहले भारतीय इतिहास-लेखन की दो धाराएं थीं। जेम्स मिल और विन्सेंट स्मिथ ने इतिहास-लेखन की नई परम्परा शुरु की थी। जेम्स मिल ने अपनी पुस्तक *हिस्ट्री ऑफ इंडिया* (1818-23) में भारत के इतिहास-लेखन के मानदंड जो स्थापित किए थे उसमें भारतीय समाज के प्रति तिरस्कार की भावना थी। उन्होंने पूर्व-औपनिवेशिक भारतीय सभ्यता को पिछड़ा, अंधविश्वास से ग्रस्त और निष्क्रिय बताया और यह भी कहा कि यहां कोई सभ्यता नाम की कोई चीज ही नहीं थी। वे भारत में अंग्रेजों की उपलब्धियों के अंधप्रशंसक और ब्रिटिश पूर्व भारतीय समाज और राजनीति व्यवस्था के कटु आलोचक थे। उन्होंने भारतीय इतिहास को तीन भागों में विभक्त किया; हिन्दू, मुसलमान और ब्रिटिश। उनके अनुसार इन तीनों सभ्यताओं में अन्तर स्थापित करने के लिए यह विभाजन आवश्यक था।

विन्सेंट स्मिथ ने अपनी पुस्तक *द ऑक्सफोर्ड हिस्ट्री ऑफ इंडिया* (1919) लिखी जिसने भारतीय इतिहास-लेखन के क्षेत्र में एक नया मार्ग प्रशस्त किया। इस पुस्तक में उन्होंने अपनी ओर से जबर्दस्ती का निर्णय नहीं थोपा और मिल की किताब में भारतीय इतिहास के पूर्व ब्रिटिश काल के प्रति जो तिरस्कार भाव था उसे भी शामिल नहीं किया। इसके बजाए उन्होंने कालक्रम से भारतीय इतिहास की घटनाओं का उल्लेख किया और राजवंशों के उत्थान और पतन पर अपना ध्यान केंद्रित किया।

कोसाम्बी ने भारतीय इतिहास को बिलकुल अलग ढंग से देखा। उनके लिए मिल के धार्मिक काल विभाजन और स्मिथ के राजवंशों के कालानुक्रम का कोई महत्व नहीं था। उनका मानना था कि 'समाज उत्पादन के बंधनों से बंधा होता है।' इसलिए उन्होंने कहा कि *'इतिहास भारतीय उत्पादन के साधनों और संबंधों के लगातार होनेवाले विकास की कालानुक्रम प्रस्तुति है।'* उनके अनुसार 'इसी परिभाषा के तहत प्रागैतिहासिक काल, जिस समय लेखन का विकास नहीं हुआ था, की सही जानकारी हमें मिल सकती है।' उन्होंने यह भी बताया कि भारतीय इतिहास को वर्ग संघर्ष के रूप में देखना चाहिए।

> 'एक वर्ग समाज में भारतीय इतिहास के समुचित अध्ययन का तात्पर्य उच्च वर्ग और जनता के हितों के अन्तर का विश्लेषण है; तात्पर्य यह कि जो नया वर्ग उभरकर सामने आ रहा है वह सत्ता तक पहुंचने के क्रम में किस प्रकार का बदलाव ला रहा है और अपने हितों की पूर्ति और सुरक्षा के लिए उसकी प्रतिक्रिया किस प्रकार की है।'

उन्होंने इतिहास के प्रति अपने दृष्टिकोण को 'द्वंद्वात्मक भौतिकवाद' या इसके संस्थापक के नाम पर मार्क्सवाद भी कहा। उन्होंने कहा कि 'मार्क्सवाद केवल आर्थिक संदर्भों को ही नहीं देखता जैसा कि इसके विरोधी सोचते हैं।' उन्होंने यह भी कहा कि 'मार्क्स के सिद्धांत को अपनाने का अर्थ उनके सभी निष्कर्षों को आंख मूंदकर दोहराना नहीं है तथा जरूरी नहीं कि हर बार मार्क्सवादी पार्टी की आधिकारिक मान्यताओं का ही अनुपालन किया जाए।' उन्होंने कहा कि मार्क्सवाद एक साधन है जिसका भारतीय समाज और इतिहास के अध्ययन में सार्थक उपयोग किया जा सकता है।

भारतीय इतिहास के प्राचीन काल से संबंधित पर्याप्त आंकड़े उपलब्ध न होने के कारण भी उन्होंने छोटे पैमाने पर होनेवाली घटनाओं की बजाए बृहद स्तर पर हुए सामाजिक परिवर्तनों का विश्लेषण किया। उनका मानना था कि तुलनात्मक प्रविधि का उपयोग करने से ऐतिहासिक स्रोतों की कमी पूरी हो जाएगी। इसलिए उन्होंने भारतीय समाज के अध्ययन के लिए अन्तर-अनुशासनात्मक दृष्टिकोण अपनाया। इसलिए उन्हें यथार्थ की तस्वीर विभिन्न कोणों से देखने और दिखाने में मदद मिली। ये विचार उनकी चार पुस्तकों में स्पष्ट हैं: एन *इन्ट्रोडक्शन टू द स्टडी ऑफ इंडियन हिस्ट्री* (1956), *एक्स्परेटिंग एसेज: एक्सरसाइज इन द डायलेक्टिकल मेथड* (1957), *मिथ ऐंड रियालिटी: स्टडीज इन द फॉरमेशन ऑफ इंडियन कल्चर* (1962) *और द कल्चर ऐंड सिविलाइजेशन ऑफ एन्सिएंट इंडिया इन हिस्टोरिकल आउटलाइन* (1965)।

इतिहास-लेखन में कोसाम्बी ने मार्क्स का अंधानुकरण नहीं किया। उन्होंने दो प्रमुख मार्क्सवादी अवधारणाओं यानी एशियाई उत्पादन पद्धति और दास प्रथा को खारिज कर दिया क्योंकि प्राचीन भारतीय समाज पर यह दृष्टिकोण लागू नहीं होता है। हालांकि भारतीय संदर्भ में उन्होंने सामंतवाद की अवधारणा को स्वीकार किया परंतु दास प्रथा की मौजूदगी से इन्कार किया। उनके अनुसार प्रारंभिक भारतीय समाज को जनजाति से जाति की ओर संक्रमण के रूप में देखना उचित होगा। उन्होंने बताया कि 'पूर्व-वर्ग समाज कबीलों में विभाजित था।' कबीले छोटे और स्थानीय समुदाय थे और 'कबीलाई लोगों के लिए कबीला ही उनका समाज था।' जब हल से खेती की जाने लगी तो उत्पादन प्रणाली में मूलभूत परिवर्तन हुआ। इसने कबीलों और गोत्रों को विस्थापित किया और जाति एक नए सामाजिक संगठन के रूप में उभरी। यह एक महत्वपूर्ण और निर्णायक विकास था। कोसाम्बी लिखते हैं :

> **'भारतीय समाज के सम्पूर्ण विकासक्रम को देखने से यह पता चलता है कि कबीलाई तत्व धीरे-धीरे आम समाज में समाहित होते चले गए।** यह परिघटना भारतीय समाज की खासियत यानी जाति का आधार बनी जो प्राचीन भारत का एक बड़ा आधारभूत कारक है।'

कोसाम्बी ने बौद्धिक और सांस्कृतिक उत्पादन से मौजूदा सामाजिक और आर्थिक परिस्थिति को जोड़ने का प्रयास किया। अतएव उनके अनुसार भागवत गीता के उपदेशों को उस सामंती समाज के संदर्भ में समझा जा सकता है जिसमें इसे लिखा गया। यह उस शासकीय वर्ग का दर्शन सामने रखता है जो व्यक्तिगत निष्ठा के बंधन में विश्वास रखता है जो सामंत, मुखिया, मालिक, नौकर, प्रजा और राजा को एकसाथ बांधकर रखता है। इसी प्रकार भक्ति आंदोलन ईश्वर के प्रति निष्ठा पर आधारित है जिसमें शासक के प्रति निष्ठा और भक्ति का भाव भी शामिल है। सातवीं शताब्दी के कवि भतृहरि की कविताओं के विश्लेषण से भी यही बात सामने आती है। उन्होंने कहा कि निस्संदेह भतृहरि अपने जमाने के महान भारतीय विद्वान थे परंतु उनका चिंतन जाति और परम्परा के बंधन में बंधा हुआ था। इसलिए उसमें आम जीवन का स्पंदन सीमित रूप में ही देखने को मिलता है। मिथकों का अध्ययन करते हुए उन्होंने बताया कि इसमें समाज का मातृसत्तात्मकता से पितृसत्तात्मकता की ओर संक्रमण परिलक्षित होता है।

22.4 सामंतवाद पर बहस

जैसा कि हमने पिछले भाग में अध्ययन किया डी.डी.कोसाम्बी ने मार्क्स के खुद के कथनों और कई मार्क्सवादियों के विचारों के विपरीत यह कहा कि भारतीय समाज में यूरोप की तर्ज पर उत्पादन की पद्धति का हू ब हू विकास नहीं हुआ। उन्होंने यह कहा कि भारत में उत्पादन की दास पद्धति नहीं पाई जाती थी और मार्क्स की एशियाई उत्पादन पद्धति की अवधारणा भारत पर लागू नहीं होती। परंतु उनका मानना था कि भारत में सामंतवाद मौजूद था, हालांकि इसका स्वरूप भिन्न था। उनका यह भी मानना था कि मध्यकालीन भारतीय समाज यूरोप से बिलकुल अलग था। यूरोपीय सामंतवाद की प्रमुख विशेषताएं थीं जागीरदारी प्रणाली, (मैनोरियल सिस्टम) भूसम्पत्ति, खेती और कृषिदास प्रथा। भारत में इनमें से कोई भी लक्षण मौजूद थे। उन्होंने कहा कि ऐसा इसलिए था क्योंकि भारत में उत्पादन की दास पद्धति मौजूद नहीं थी। इसके अलावा उन्होंने भारत में दो प्रकार के सामंतवाद की चर्चा की। ऊपर से आरोपित सामंतवाद और नीचे से आया सामंतवाद।

> 'ऊपर से आए सामंतवाद का तात्पर्य राज्य से है जिसमें एक सम्राट या शक्तिशाली राजा अपने सामन्तों से नजराना प्राप्त करता है, जो अपने क्षेत्र में अपनी मर्जी से शासन करते हैं और उनका वहां पूर्ण अधिकार होता है। जबतक वे सम्राट को नजराना देते रहते हैं सम्राट उनसे छेड़छाड़ नहीं करता। नीचे से आए सामंतवाद का तात्पर्य उस अगले चरण से है जिसमें गांव में, राज्य और किसानों के बीच भूमिपतियों के एक वर्ग का उदय होता है जो धीरे-धीरे स्थानीय जनता पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लेता है। यह वर्ग प्रभुत्वशाली होता है और सत्ता से सीधे संबंध का दावा करता है और इसके कार्यक्षेत्र में किसी का हस्तक्षेप नहीं होता।'

कोसाम्बी ने जिस परम्परा की शुरुआत की उसे आर.एस. शर्मा ने आगे बढ़ाया जिन्होंने अपनी पुस्तक *इंडियन फ्यूडलिज्म* (1965) में और अपने कई लेखों में भारत का व्यापक अध्ययन किया। उनके अनुसार उत्तर गुप्त काल में व्यापार में गिरावट आई और राज्य अधिकारियों को वेतन के बदले भूमि तथा पूजा पाठ कराने तथा धर्मार्थ के रूप में ब्राह्मणों को अनुदान दिया गया। इस प्रक्रिया के कारण कृषक वर्ग उनका मातहत बन गया और भूमिपतियों पर आश्रित हो गया। कहा गया कि पश्चिमी यूरोपीय सामंतवाद की सभी विशिष्टताएं जैसे दास प्रथा, मैनोर, आत्मनिर्भर आर्थिक इकाइयां, शिल्प और वाणिज्य का सामंतीकरण, लम्बी दूरी के व्यापारों का पतन और शहरों का पतन भारत में भी देखने को मिलता है। आर.एस.शर्मा के अनुसार भारतीय सामंतवाद का सबसे महत्वपूर्ण पक्ष यह है कि इस दौरान किसान बिचौलियों के रहमोकरम पर जीने लगे जिन्हें राज्य से भूमि अनुदान मिलता था और उनके पास न्यायिक अधिकार भी हुआ करते थे। इसके कारण किसान एक जगह भूमि से बंधकर रह गए

और धीरे-धीरे उनसे जबरन मजदूरी कराई जाने लगी। पश्चिम यूरोप की ही तरह यहां भी सामंतवाद का पतन हुआ। लम्बी दूरी के व्यापारों के पुनरुत्थान, शहरों के उदय, किसानों के पलायन और मुद्रा आधारित अर्थव्यवस्था के विकास को भारत में सामंतवाद के पतन के लिए उत्तरदायी माना गया। इस अवधारणा के अनुसार भारत में सामंतवाद का उदय चौथी शताब्दी के आसपास हुआ और बारहवीं शताब्दी में इसका पतन हो गया।

मध्यकालीन भारतीय समाज और अर्थव्यवस्था पर इस तरह विचार किए जाने पर कई इतिहासकारों ने सवाल उठाए और यह कहा कि भारतीय समाज का विकास पश्चिम की तरह नहीं हुआ। उन्होंने यह भी कहा कि विकास का यह ढांचा सभी समाजों पर एक जैसा लागू नहीं किया जा सकता। हरबन्स मुखिया ने अपने विचारोत्तेजक लेख 'क्या भारतीय इतिहास में कभी सामंतवाद था' (1981) में कई सवाल उठाए। सबसे पहले उन्होंने कहा कि सामंतवाद की एक और सबके द्वारा स्वीकृत परिभाषा नहीं हो सकती। ऐसा इसलिए क्योंकि सामंतवाद पूरी दुनिया की व्यवस्था नहीं थी। वस्तुतः पूंजीवाद पहली ऐसी व्यवस्था थी जो पूरे विश्व में फैली हुई थी। इसलिए पूंजीवाद आने से पहले सभी समाज अपने में विशिष्ट थे और एक दूसरे से काफी भिन्न थे। इसलिए सामंतवाद 'अपने पूरे इतिहास में एक विशिष्ट सामाजिक आर्थिक संगठन रहा जो पूरी दुनिया में एक जैसा नहीं था। यह एक खास समय और क्षेत्र तक सीमित था जहां उत्पादन के लिए विशिष्ट प्रविधि अपनाई गई और संगठन निर्मित किया गया।' मुखिया ने सामंतवाद को परिभाषित करते हुए लिखा है कि 'इसमें भूमिपतियों पर किसान पूरी तरह आश्रित होता है।' इस प्रकार की व्यवस्था 'पश्चिम यूरोप में पांचवी से छठी शताब्दियों के बीच पाई जाती है। पूर्वी यूरोप में सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दियों के बीच और संभवतः जापान में खासतौर पर तोकुगावा शासन के दौरान सामंतवाद का उदय अपने खास रूप में हुआ।' वे सामंतवाद को 'संक्रमणकालीन प्रणाली' मानते हैं :

> 'यह एक संक्रमणकालीन व्यवस्था थी जिसमें पश्चिम यूरोप की अर्थव्यवस्था कृषि उत्पादन की दास व्यवस्था से बाहर निकलकर पूंजीपति कृषकों के हाथ में जा रही थी और किसान मजदूर बनते जा रहे थे। परंतु इसमें मुक्त किसान भी एक महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहे थे।'

सामंतवाद की इस परिभाषा के आधार पर मुखिया अपनी बात रखते हुए कहते हैं कि भारत में सामंतवाद नहीं था। वे कहते हैं कि यूरोप में भी लम्बी दूरी के व्यापारों के उत्थान और पतन से सामंतवाद का रिश्ता बहुत स्पष्ट नहीं है। वस्तुतः विभिन्न यूरोपीय समाजों में व्यापार का अलग-अलग प्रभाव पड़ा। कुछ स्थानों में जैसे पश्चिमी यूरोप में सामंती बंधन टूटे तो पूर्वी यूरोप में भूमिपतियों को और भी शक्ति प्राप्त हुई और सामंती गठबंधन और भी मजबूत हुआ। मुखिया कहते हैं कि आरंभिक मध्यकालीन भारत में व्यापार और शहरों का कोई खास पतन हुआ या नहीं यह कहना मुश्किल है। दूसरे, समाज के बदलते आधारों के कारण यूरोपीय सामंतवाद का विकास और ह्रास हुआ। भारत में ऊपर से आरोपित भूमि अनुदान को सामंतवाद के उदय के एक कारण के रूप में देखा गया। मुखिया के अनुसार यह स्वीकार करना मुश्किल लगता है कि 'इस प्रकार का जटिल सामाजिक ढांचा प्रशासनिक और कानूनी कार्रवाइयों से खड़ा किया जा सकता है।' सामंतवाद के एक प्रमुख तत्व — भूमिपतियों पर किसानों की निर्भरता — के बारे में मुखिया का मानना है कि भारत में इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता। उनका मानना है कि संभवतः किसानों का शोषण बढ़ा परंतु इस बात का प्रमाण नहीं मिलता है कि किसानों द्वारा किए जा रहे उत्पादों पर बाहरी नियंत्रण था। उनका मानना है कि 'भारत में जबरन मजदूरी कुल मिलाकर शासकीय वर्ग की राजनीति और प्रशासनिक शक्ति का परिचायक था न कि उत्पादन की प्रक्रिया का हिस्सा था।' उन्होंने निष्कर्ष प्रस्तुत करते हुए लिखा है कि 'मुख्य रूप से उत्तर मौर्यकाल में कृषि उत्पादन से मुक्त किसानों की संख्या बढ़ती चली गई और इस प्रकार प्राचीन और मध्यकालीन भारत की कृषीय अर्थव्यवस्था

की यह खासियत रही।' इस परिदृश्य में भारत में उत्पादन की सामंती व्यवस्था के अस्तित्व का कोई सवाल ही नहीं उठता है।

मुखिया के इन तर्कों की इस क्षेत्र के कई मार्क्सवादी और गैर मार्क्सवादी विद्वानों ने आलोचना की। उन्होंने जो सवाल उठाए थे उनके महत्व को सभी ने सराहा परंतु सामंतवाद की उनकी अवधारणा, पश्चिमी यूरोपीय अनुभव पर उनके विचार, भारतीय इतिहास की उनकी व्याख्या और खासतौर पर भारत में मुक्त कृषक उत्पादन की उनकी अवधारणा की आलोचना हुई।

आर.एस. शर्मा ने इसके जवाब में 'भारतीय सामंतवाद किस प्रकार सामंती था?' (1985) नामक एक लेख लिखा। उन्होंने यह स्वीकार किया कि सामंतवाद एक सार्वभौमिक परिघटना नहीं थी परंतु उन्होंने कहा कि सभी पूर्व-पूंजीवादी समाजों पर यह बात लागू नहीं होती। अतएव 'कबीलाई व्यवस्था, पत्थर युग, धातु युग और भोजन उत्पादन अर्थव्यवस्था सार्वभौमिक परिघटनाएं हैं। इनसे पता चलता है कि इस प्रक्रिया और परिघटना की प्रवृत्ति किसी प्रकार के नियम से परिचालित थी।' उनका मानना है कि भारत में सामंतवाद था परंतु इसकी प्रकृति काफी अलग थी। उनके अनुसार 'जिस प्रकार कबीलाई समाज में काफी विविधता पाई जाती है उसी प्रकार सामंती समाजों में भी पर्याप्त विविधता देखने को मिलती है।' उन्होंने उत्पादन के साधनों, खासतौर पर भूमि पर किसानों के नियंत्रण की अवधारणा पर सवाल उठाए। उनका मानना है कि भूमि पर कई प्रकार से ऊपर से नीचे तक कई स्तरों के अधिकार हुआ करते थे जिसमें किसान निचले पायदान पर खड़ा होता था। जिन इलाकों में भूमि अनुदान दिया जाता था उस स्थान पर अनुदान प्राप्तकर्ता को विशेष अधिकार मिले होते थे:

> 'भूमि आज्ञापत्रों के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि दान दिए गए इलाकों में उत्पादन के साधनों पर भूमि अनुदान प्राप्तकर्ता का आमतौर पर नियंत्रण हुआ करता था। इसके बावजूद किसान के हर खेत पर उनका अलग से नियंत्रण नहीं होता था। लेकिन राजा से सीधे अनुदान के रूप में प्राप्त भूमि पर उनका पूर्ण नियंत्रण था। कभी-कभी यह भू अनुदान बटाईदार और बुनकर तथा कभी-कभी खेतिहरों के साथ प्राप्त होता था।'

मुखिया के तर्क को काटते हुए वे बताते हैं कि देश के कई हिस्सों में जबरन मजदूरी के प्रमाण भी मिलते हैं। वे बताते हैं कि भारत में आरंभिक मध्यकाल में सामंतवाद मौजूद था 'जिसमें भूमिपतियों का एक वर्ग और मातहत किसानों का एक वर्ग शामिल था। दोनों ही कृषक अर्थव्यवस्था पर आश्रित थे। इससे पता चलता है कि व्यापार और शहरीकरण का ह्रास हुआ और धातु से बनी मुद्राओं में तेजी से कमी आई।'

इरफान हबीब ने किसी भी सामाजिक संघटन में उत्पादन की प्रमुख पद्धति को पहचानने के लिए एक नए तत्व से परिचित कराया। उन्होंने कहा कि यह ठीक है कि श्रम के सामाजिक स्वरूप से उत्पादन की विशिष्ट प्रवृत्ति प्रभावित होती है परंतु यह एकमात्र निर्धारक तत्व नहीं होता। अतएव हालांकि 'समाजवाद में भी वेतन-मजदूरी श्रम का आधारभूत रूप है परंतु इसके आधार पर पूंजीवाद और समाजवादी पद्धतियों को समान करार नहीं दिया जा सकता।' इसी प्रकार छोटे किसानों द्वारा किया जा रहा उत्पाद कई सामाजिक संगठनों में पाया जा सकता है। इसलिए एक दूसरे महत्वपूर्ण तत्व को ध्यान में रखना चाहिए और वह यह कि 'इस व्यवस्था में उत्पादकों द्वारा प्राप्त अधिशेष को कैसे वितरित किया जाता है।' हालांकि हबीब पूर्व-उपनिवेशवादी भारत में सामंतवाद की मौजूदगी को संदेह की निगाह से देखते हैं परंतु वे मुखिया के तर्क को दूर की कौड़ी मानते हैं। उनका मानना है कि मुखिया की 'मुक्त कृषक' और 'भारतीय सामाजिक और आर्थिक इतिहास मे अपेक्षाकृत स्थायित्व' की अवधारणा ग्राह्य नहीं हो सकती। उनके अनुसार इस प्रकार के निष्कर्ष 'पूर्व-औपनिवेशिक भारत की काल्पनिक तस्वीर पेश करते हैं जिसे न्यायसंगत ठहराना कठिन है।' उनके विचार में 'दूसरी जगहों की

तरह यहां भी गहरा अन्तर्विरोध है परंतु यूरोप में पूंजीवाद का विकास जिन अन्तर्विरोधों के कारण उदित हुआ और इसकी प्रकृति काफी अलग है।' इसके अलावा वे भारतीय संदर्भ में 'अपवादवाद' के विचार को भी खारिज करते हैं। यहां के समाज में भी गहरे अन्तर्विरोध थे, किसान कई स्तरों में विभाजित थे तथा वर्ग शोषण कायम था।

बर्टन स्टीन महत्वपूर्ण सवाल उठाने के लिए मुखिया की प्रशंसा करते हैं परंतु उन्हें भी मुखिया के तर्क में कई कमियां दिखाई पड़ती हैं। दक्षिण भारत पर विचार करते हुए उन्होंने लिखा है कि स्थानीय नियंत्रण और शक्तिशाली व्यक्तियों का निजी कानूनी क्षेत्र अधिकार, स्वतंत्र योद्धा समूहों की मौजूदगी जो नजराना वसूल किया करते थे और कमजोर राज्य संघटन इसकी कुछ विशेषताएं थीं। दूसरे, वे मुखिया की पूर्व-उपनिवेशवादी समाज और अर्थव्यवस्था के 'अपेक्षाकृत स्थायित्व' संबंधी अवधारणा पर भी सवाल उठाते हैं। स्थायित्व की इस अवधारणा का मतलब यह हुआ कि दो हजार वर्षों में उत्पादन के साधन और संबंधों में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। स्टीन इसे स्वीकार नहीं करते। उनका मानना है कि 'यह स्थायित्व सापेक्षिक नहीं बल्कि अपने आप में पूरी तरह निरपेक्ष हो जाता है।' एक इतिहासकार के रूप में इस अवधारणा को वे पचा नहीं पाए और उन्होंने कहा कि इसे ग्रहण करना मेरे लिए मुश्किल है। राज्य की भूमिका के संदर्भ में उन्होंने केन्द्रीकृत और नौकरशाही अवधारणा को खारिज कर दिया। इसके बजाए उन्होंने 'खंडित राज्य' की अवधारणा सामने रखी। एक ऐसा राज्य जिसकी शक्तियां सीमित थीं। जहां तक 'मुक्त किसान' का सवाल है उन्होंने किसानों की सामूहिकता पर बल दिया जिसका उत्पादक शक्तियों पर नियंत्रण था। उन्होंने उत्पादक के रूप में निजी किसानों की मुक्तता की अवधारणा पर सवाल उठाए। सामूहिक और खंडित कृषक उत्पादन के संबंध में स्टीन का मानना है कि दसवीं और सत्रहवीं शताब्दियों के बीच की अवधि में दक्षिण भारत को एकल सामाजिक संगठन कहा जा सकता है।

इन आलोचनाओं के जवाब में मुखिया ने अपने पक्ष का समर्थन करते हुए कहा कि पूंजीवाद पहली विश्व व्यवस्था है और इससे पहले की सारी व्यवस्थाएं क्षेत्र विशेष तक सीमित थीं और 'उनमें वह आंतरिक शक्ति नहीं थी जो इसे दुनिया भर में एक जैसा बना सके।' केवल कृषि अर्थव्यवस्था और गैर.आर्थिक उत्पीड़न द्वारा अधिशेष अधिग्रहण पूर्व-औद्योगिक समाजों में एक समान उपस्थित था। परंतु इसमें उत्पादन प्रक्रिया और श्रम के सामाजिक संगठन जैसी विशेषताओं को शामिल नहीं किया गया। उन्होंने पुनः एक बार जोर देकर कहा कि पूर्व-औपनिवेशिक भारत में किसान मुक्त थे जिनके उत्पादन की प्रक्रिया बाहय नियंत्रण से मुक्त थी।

अभी हम मार्क्सवादी इतिहासकारों द्वारा मध्ययुगीन भारतीय समाज के बारे में किए गए कई प्रकार के व्याख्याओं और विश्लेषणों से परिचित हुए जो एक दूसरे से काफी हद तक अलग हैं। इस बहस से गुजरते हुए हमें मध्यकालीन भारतीय इतिहास की कई प्रकार की मार्क्सवादी व्याख्याओं से परिचित होने का मौका मिला।

22.5 भारतीय राष्ट्रवाद

पिछले एक भाग (22.2) में हमने भारतीय राष्ट्रवाद के संबंध में आर.पी.दत्त और ए.आर.देसाई के दृष्टिकोणों की चर्चा की थी। उन्होंने इसे एक ऐसा आंदोलन कहा है जिस पर बुर्जआ वर्ग का प्रभुत्व था। हालांकि इसमें किसानों और मजदूरों के साथ-साथ कई वर्गों ने हिस्सेदारी की थी परंतु इसकी बुनियादी प्रकृति बुर्जुआ थी। लम्बे समय तक मार्क्सवादी इतिहासकार राष्ट्रवादी आंदोलन के बारे में इसी प्रकार सोचते थे। परंतु समय के साथ-साथ कई विद्वानों ने राष्ट्रवाद के इस प्रकार के विचार से अपनी असहमति व्यक्त की और भारतीय राष्ट्रवाद को अपने ढंग से समझने का प्रयास किया। बिपन चंद्र ने इस दृष्टिकोण की आलोचना की और यह आलोचना आनेवाले वर्षों में और भी पुष्ट और सुदृढ़ होती चली गई। अपनी पहली ही

पुस्तक *भारत में आर्थिक राष्ट्रवाद का उदय और विकास* (1966) में उन्होंने कार्रवाई और परिवर्तन के प्रमुख माध्यम के रूप में विचारों को कुछ हद तक स्वायत्ता देने की बात कही। उन्होंने यह कहा कि सामाजिक संबंध मनुष्य द्वारा निरूपित विचारों से स्वतंत्र होते हैं। उन्होंने यह भी कहा कि सामाजिक और राजनीति कार्रवाइयों के लिए इन संबंधों को समझना आवश्यक है। इसके अलावा उन्होंने यह भी तर्क दिया कि किसी भी समाज में बुद्धिजीवी अपने वर्ग के संकीर्ण हितों से ऊपर उठकर काम करता है। केवल वर्ग के आधार पर बुद्धिजीवियों का मूल्यांकन करना 'यांत्रिक भौतिकतावाद का अंधानुकरण है।' इसका कारण यह है कि 'चेतना के स्तर पर बुद्धिजीवी अपने चिंतन से निर्देशित होते हैं, अपने हितों से नहीं।' इसलिए बुद्धिजीवियों के रूप में भारतीय राष्ट्रवादी नेता अपने संकीर्ण वर्गीय या सामूहिक हितों से ऊपर उठकर काम कर रहे थे। इसका मतलब यह बिलकुल नहीं है कि वे किसी वर्ग का प्रतिनिधित्व नहीं करते थे। वे वर्ग हितों का प्रतिनिधित्व करते थे परंतु इसका आधार वैचारिक था और वे अपने व्यक्तिगत हित के लिए ऐसा नहीं करते थे। बिपन चंद्र के अनुसार :

> 'सम्पूर्ण विश्व और इतिहास के सर्वोत्तम और श्रेष्ठ बुद्धिजीवियों की तरह उन्नीसवीं शताब्दी के भारतीय चिंतक और बुद्धिजीवी भी दार्शनिक थे और किसी दल या वर्ग के प्रवक्ता नहीं। यह ठीक है कि वे अपने वर्ग या समूह से अलग नहीं थे और अपने व्यवहार में वर्ग या सामूहिक हितों का प्रतिनिधित्व करते दिखते थे। परंतु वे अपने वर्ग हित या सामूहिक हित की वकालत वैचारिक आधार पर किया करते थे न कि उस वर्ग या समूह के एक सदस्य या आज्ञाकारी सेवक के रूप में।'

तथाकथित नरमपंथियों और गरमदल से जुड़े आरंभिक राष्ट्रवादी नेताओं की आर्थिक सोच के विश्लेषण के आधार पर बिपन चंद्र यह निष्कर्ष प्रस्तुत करते हैं कि उनका समग्र आर्थिक नजरिया 'मूलतः पूंजीवादी' था। इससे उनका तात्पर्य यह है कि 'आर्थिक जीवन के सभी मामलों में वे आमतौर पर पूंजीवादी विकास के समर्थक और खासतौर पर औद्योगिक पूंजीवाद के हितों के रक्षक थे।' इसका मतलब यह नहीं था कि वे पूंजीवादियों के व्यक्तिगत हित के लिए काम कर रहे थे। वस्तुतः आरंभिक चरण में कांग्रेस को मिला पूंजीवादी समर्थन नगण्य था। जब राष्ट्रवादियों को यह महसूस हुआ कि 'पूंजीवादी ढर्रे पर होनेवाला औद्योगिक विकास ही देश को आर्थिक प्रगति के पथ पर आगे बढ़ा सकता है या कि दूसरे शब्दों में औद्योगिक पूंजीपति वर्ग के हित उस समय के प्रमुख राष्ट्रीय हित से जुड़ गया' तो राष्ट्रवादियों ने औद्योगिक पूंजीवाद को समर्थन प्रदान किया। इसलिए बिपनचंद्र, दत्त और देसाई के दृष्टिकोण को पीछे छोड़ देते हैं। भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन के इतिहास-लेखन के दृष्टिकोण में यह एक महत्वपूर्ण परिवर्तन था।

इस परिवर्तन के बावजूद बिपन चंद्र आर.पी.दत्त द्वारा विकसित दृष्टिकोण के कई मुद्दों से सहमत दिखाई पड़ते हैं। 1972 में भारतीय कांग्रेस के सम्मेलन में उन्होंने एक लेख प्रस्तुत किया था जो उनकी पुस्तक *आधुनिक भारत में राष्ट्रवाद और उपनिवेशवाद* (1979) में प्रकाशित हुआ है। इसमें वे भारतीय राष्ट्रवाद के संबंध में आर.पी.दत्त के परम्परागत मार्क्सवादी दृष्टिकोण के काफी करीब आ गए। अपने लेख 'आरंभिक राष्ट्रवादी गतिविधियों में निरंतरता और परिवर्तन के तत्व' में उन्होंने उस संकीर्ण दृष्टिकोण की आलोचना की जिसमें राष्ट्रवादी नेताओं को बुर्जुआ कहा गया और यह माना गया कि वे पूंजीवादियों के निर्देश का पालन कर रहे थे। उनका मानना है कि आरंभिक राष्ट्रवादी नेता भारतीय जनता को एक राष्ट्र के रूप में बांधने का प्रयास कर रहे थे। उनका आधारभूत उद्देश्य साम्राज्यवादी विरोधी स्कूल का निर्माण, संगठन और सुदृढ़ीकरण, आधुनिक पूंजीवादी अर्थव्यवस्था के विकास को बढ़ावा देना और अंततः एक बृहद अखिल भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन पैदा करना था। उनका यह विचार आर्थिक राष्ट्रवाद पर इसके पहले लिखी उनकी पुस्तक से मेल खाता है।

परंतु उनके कई तर्क दत्त और देसाई से मेल खाते हैं। पहला यह कि वे यह कहते हैं कि राष्ट्रवादी नेताओं ने शांतिपूर्ण और रक्तहीन संघर्ष का आह्वान कर 'धनी वर्ग को यह

आश्वासन दे दिया कि किसी भी स्थिति में अस्थाई तौर पर भी कभी ऐसी स्थिति नहीं आएगी जहां उनके हितों को नुकसान पहुंचे।' दत्त और देसाई ने भी अहिंसा की रणनीति की यही व्याख्या की है।

दूसरे, भारतीय जनता और राष्ट्रवादियों के बीच का संबंध हमेशा समस्याओं से ग्रस्त रहा है। नरमपंथी नेताओं की योजना में जनता की कोई भूमिका नहीं थी। गरम दल के सदस्यों की वाणी में जोश था परंतु वे जनता को लामबंद करने में असफल रहे। हालांकि गांधी युग में जनता राष्ट्रवादियों के साथ जुड़ी परंतु उनका राजनीतिकरण नहीं हुआ और देश के अधिकांश हिस्सों में खेतिहर मजदूरों और गरीब किसानों के निम्न वर्गों को कभी भी राजनीतिक तौर पर लामबंद नहीं किया जा सका और इस प्रकार 1947 में भी राष्ट्रीय आंदोलन का सामाजिक आधार बहुत सुदृढ़ नहीं था। जनता को लामबंद करते समय उन्हें निर्णय लेने की प्रक्रिया से नहीं जोड़ा गया और जनता और नेताओं के बीच खाई बनी रही। बिपन चंद्र के अनुसारः

> 'कुल मिलाकर जनता की राजनीतिक गतिविधि पूरी तरह ऊपर से नियंत्रित थी। जनता कभी भी स्वतंत्र राजनीतिक शक्ति नहीं बन सकी। निर्णय लेने की प्रक्रिया में उनकी भागीदारी का सवाल कभी नहीं उठा। जनता हमेशा मूक दर्शक या उंगलियों पर नाचनेवाली कठपुतली बनती रही जिनकी राजनीतिक गतिविधि पर मध्य वर्ग के नेताओं का कड़ा नियंत्रण था और वे बुर्जुआ सामाजिक विकास की आवश्यकताओं से ही परिचालित थे। गांधी ने जिस प्रकार अहिंसा को परिभाषित किया और उसका प्रयोग किया उसमें इस प्रवृत्ति की महत्वपूर्ण भूमिका थी।'

तीसरे, आंदोलन के सभी चरणों में राष्ट्रवादी नेताओं ने इस बात पर बल दिया कि देश की आजादी प्राप्त करने के लिए क्रांतिकारी नही बल्कि विकासात्मक पथ का अनुगमन करना चाहिए और ऐसा करने के लिए दबाव-समझौता-दबाव की रणनीति अपनाई गई। इस रणनीति के तहत औपनिवेशिक शासकों द्वारा दी गई राजनीतिक रियायतें स्वीकार की जाती थीं और उनको व्यावहारिक जामा पहनाया जाता था। इसके बाद कांग्रेस और भी रियायतें प्राप्त करने के लिए आंदोलन की तैयारी में जुट जाती थी। इस दौर में अंग्रेजों से अहिंसात्मक तरीके से कई राजनीतिक रियायतें प्राप्त की गई और उसी प्रक्रिया में अन्ततः देश आजाद हुआ। सामाजिक आधार, विचारधारा, राजनीतिक संघर्ष की रणनीति का विश्लेषण कर बिपन चंद्र इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि कांग्रेस के नेतृत्व में चलनेवाला राष्ट्रवादी आंदोलन बुर्जुआ लोकतांत्रिक आंदोलन था। इसने साम्राज्यवाद के बरक्स भारतीय समाज के सभी वर्गों और हिस्सों का प्रतिनिधित्व किया परंतु नेतृत्व भारतीय बुर्जुआ वर्ग के हाथ में रहा। आरंभ से 1947 तक आजादी प्राप्त करने के सम्पूर्ण इतिहास में यही प्रवृत्ति देखने को मिलती है। यहां तक कि गांधी युग में भी इसमें कोई परिवर्तन दिखाई नहीं पड़ता। बिपन चंद्र का मानना है कि गांधी युग में राष्ट्रीय आंदोलन पर बुर्जुआ वर्ग का प्रभुत्व पहले से कहीं ज्यादा बढ़ गया और आंदोलन पर उनकी पकड़ मजबूत हो गई।

बिपन चंद्र ने अपने बाद की एक पुस्तक *भारत का स्वतंत्रता संग्राम,* 1857-1947 (1988) में भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन पर दत्त और देसाई की व्याख्या से बिलकुल हटकर अपनी बात कही। अपने विचारों से मेल खाते कुछ अन्य विद्वानों के साथ अपने इस पुस्तक में राष्ट्रीय आंदोलन पर विचार करते हुए उन्होंने ग्रामशी के दृष्टिकोण की मदद ली। अभी तक भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के संबंध में जो कुछ भी उन्होंने कहा था या तो उसे छोड़ दिया या संशोधित किया। कांग्रेस की रणनीति को अब वे दबाव-समझौता-दबाव की रणनीति के रूप में नहीं देखते हैं। अब वे ग्रामशी के 'युद्ध की नाकेबंदी' अवधारणा का सहारा लेते हैं जिसके अनुसार लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए लम्बी लड़ाई लड़नी पड़ती है। बिपन चंद्र के अनुसारः

> 'भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन एक मात्र ऐसा आंदोलन है जिसमें ग्रामशी के सैद्धांतिक दृष्टिकोण युद्ध की नाकेबंदी को व्यावहारिक जामा पहनाया गया हैं। यहां किसी एक क्रांति के दौरान राजनीतिक सत्ता नहीं हथिया ली गई बल्कि नैतिक, राजनीतिक और विचारधारात्मक स्तर पर लम्बे जनांदोलन के तहत विजय प्राप्त की गई। लगातार आगे बढ़ते हुए एक ताकत और एक माहौल बनाया गया। इस दौरान ऐसे कई दौर आए जिसे निष्क्रियता का दौर भी कह सकते हैं।'

यह संघर्ष कभी भी हिंसात्मक नहीं हुआ क्योंकि राष्ट्रवादी नेताओं को एक ओर भारतीय जनता को एक राष्ट्र के रूप में संगठित करना था और दूसरी ओर औपनिवेशिक वर्चस्व को समाप्त करना था। अपने लम्बे संघर्ष के दौरान वे अंग्रेजों के औपनिवेशिक शासन के बारे में दो मिथ्या धारणाओं का भंडाफोड़ करना चाहते थे कि यह भारतवासियों के लिए लाभप्रद है और दूसरा कि यह अभेद्य है। गांधी जी की अहिंसा को भी इसी परिप्रेक्ष्य में देखना होगा। बिपन चंद्र के अनुसार:

> 'यह न तो गांधी जी का कोई पाखंड था और न ही यह धनी वर्ग के निर्देशों से परिचालित और निर्देशित था। यह आंदोलन का एक अनिवार्य हिस्सा था जिसके जरिए जनता को साथ लेकर एक व्यापक जनांदोलन किया गया जिसका उद्देश्य अंग्रेजों से संघर्ष करना था। इस प्रक्रिया में यथासंभव और यथाशक्ति लोगों को लामबंद किया गया।'

अब राष्ट्रीय आंदोलन को एक अखिल वर्गीय आंदोलन के रूप में देखा जाने लगा जिसमें सभी वर्गों को अपना वर्चस्व स्थापित करने की जगह और अवसर मिलने लगा। इसके अलावा मुख्य दल कांग्रेस उस समय यानी 1885 से 1947 तक एक दल नहीं बल्कि आंदोलन था। उन्होंने इतिहास-लेखन की विभिन्न विचारधाराओं की इसलिए आलोचना की है कि वे औपनिवेशिक भारत में भारतीय जनता और ब्रिटिश उपनिवेशवाद के बीच के मुख्य अन्तर्विरोधों को नहीं पहचान पाए। हालांकि अब भी उनका मानना था कि 'कांग्रेस की मुख्य विचारधारा पूंजीवादी सामाजिक ढांचे के दायरे से बाहर नहीं निकल सकी।' परंतु भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन के परम्परागत मार्क्सवादी व्याख्या से अलग हटते हुए उन्होंने अपनी बात सामने रखी और निश्चित रूप से भारतीय राष्ट्रवाद का अध्ययन करनेवाले विद्यार्थियों को उनके दृष्टिकोण को देखे बिना आगे बढ़ना संभव नहीं है।

प्रमुख मार्क्सवादी इतिहासकार सुमित सरकार ने भी दत्त की दृष्टि की आलोचना की है। अपनी पहली पुस्तक *बंगाल में स्वदेशी आंदोलन 1903-1908* (1973) में उन्होंने इसे मार्क्सवादी वर्ग दृष्टिकोण का सतही संस्करण' बताया है। जहां दत्त का यह मानना था कि नरमदलीय चरण 'बड़े बुर्जुआ वर्ग' द्वारा संचालित था और गरमदलीय चरण पर शहर में रहने वाले छोटे बुर्जुआ वर्ग का प्रभाव था वहीं सुमित सरकार का मानना है कि नरम दल और गरम दल के बीच वर्गीय नेतृत्व के स्तर पर ऐसा कुछ भी नहीं था। उनके अनुसार मार्क्सवादी व्याख्या का यह संस्करण किसी भी राजनीतिक कार्रवाई और आदर्श के पीछे प्रत्यक्ष या ठेठ आर्थिक प्रेरणा की अवधारणा से प्रभावित है। वे इसकी बजाए ट्रॉटस्की के 'विस्थापनवाद' की अवधारणा के आधार पर राष्ट्रवादी नेताओं के कार्यों का विश्लेषण करना पसंद करते हैं जिसके अनुसार बुद्धिजीवी वर्ग 'लगातार अप्रत्यक्ष और निष्क्रिय सामाजिक शक्तियों के बदले में कार्य कर रहा था जिनके साथ इनका सीधा और सक्रिय संबंध नहीं था।' उन्होंने ग्रामशी के 'परम्परागत' और 'ऑरगेनिक' बुद्धिजीवी वर्ग के वर्गीकरण का भी उपयोग किया है। प्रसिद्ध इतालवी मार्क्सवादी कार्यकर्ता और विचारक एन्टोनियो ग्रामशी के अनुसार 'ऑरगेनिक' बुद्धिजीवी सीधे उत्पादन प्रक्रिया में भाग लेते हैं और जिस जनता का वे नेतृत्व करते हैं उनसे उनका सीधा संबंध होता है। दूसरी ओर 'परम्परागत' बुद्धिजीवियों का उत्पादन प्रक्रिया या जनता से सीधा संबंध नहीं होता। वे किसी खास वर्ग के नेता होते हैं और सैद्धांतिक तौर पर

उन वर्गों का उत्तरदायित्व अपने हाथ में ले लेते हैं। सरकार के अनुसार बंगाल में स्वदेशी आंदोलन के नेता 'परम्परागत शिक्षित जातियों से सम्बद्ध थे और 1850 के दशक के बाद वाणिज्य या उद्योग से उनका कोई संबंध नहीं था। ग्रामशी के शब्दों में यह 'परम्परागत' बुद्धिजीवी वर्ग था।' यह दृष्टिकोण बिपन चंद्र के उस दृष्टिकोण के काफी करीब प्रतीत होता है जिसमें उन्होंने आरंभिक राष्ट्रवादी नेताओं के निर्माण में विचारधारा की भूमिका पर बल दिया है। सुमित सरकार का यह मानना है कि हालांकि ये राष्ट्रवादी नेता सीधे बुर्जुआ वर्ग से नहीं जुड़े थे परंतु 'उन्होंने देश में स्वतंत्र पूंजीवादी विकास के लिए अंशतः मार्ग प्रशस्त करने में मदद की।' उन्होंने अपने लेख 'द लॉजिक ऑफ गांधीयन नेशनलिज्म' (1985) में इस तर्क को और आगे बढ़ाया है। अब तक राष्ट्रवादी नेताओं की पूंजीवाद के पक्ष में जो वस्तुगत स्थिति थी, वह अब बुर्जुआ वर्ग के सीधे हस्तक्षेप में तब्दील हो गई और यह कहा गया कि नागरिक अवज्ञा आंदोलन के नेता पूंजीपतियों के पक्ष में सचेतन रूप से खड़े हुए थे। नागरिक अवज्ञा आंदोलन के पीछे की सामाजिक शक्तियों और गांधी इरविन समझौते तक घटी घटनाओं का अध्ययन करने के बाद वे इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि 'बुर्जुआ समूहों की भूमिका काफी बढ़ी थी और नागरिक अवज्ञा आंदोलन का आह्वान करने और उसे वापस लेने में उनकी बड़ी भूमिका थी।' आगे वे यह भी स्पष्ट करते हैं कि गांधी जी 'सीधे-सीधे या यांत्रिक तौर पर बुर्जुआ औजार नहीं थे' और उन्हें किसी भी तरह पूंजीवादियों की कठपुतली नहीं माना जा सकता। परंतु उन्होंने यह बात भी कही कि गांधी जी के नेतृत्व में कुछ ऐसे तत्वों और संयोगों का समावेश था जो कई बार भारतीय व्यावसायी वर्ग के हितों से जुड़ता था और इसके साथ-साथ बुर्जुआ वर्ग के हितों के तरफ भी इसका झुकाव दिखाई पड़ता था।

22.6 बौद्धिक इतिहासः भारतीय नवजागरण पर बहस

जन भावनाओं के निर्माण और जनता को नेतृत्व देने में बुद्धिजीवियों की भूमिका से कोई इन्कार नहीं कर सकता परंतु प्रमुख मुद्दा यह है कि उनका प्रभाव कितना व्यापक था और इसकी सीमाएं क्या थीं और इन सीमाओं का कारण क्या था? 'बंगाल नवजागरण' जिसे कभी-कभी 'भारतीय नवजागरण' भी कहा जाता है ने मार्क्सवादी और गैर-मार्क्सवादी विद्वानों का ध्यान आकृष्ट किया। ऐसा इसलिए क्योंकि अधिकांश समकालीन बुद्धिजीवियों ने जिन विचारों को सामने रखा, वे पश्चिमी दुनिया से ग्रहण किए गए थे। बंगाल सबसे लम्बी अवधि से औपनिवेशिक शासन के अधीन था। इसलिए स्थानीय बुद्धिजीवी वर्ग ने सबसे पहले इस दिशा में कदम आगे बढ़ाए और उनके विचार वर्षों तक पूरे देश में छाए रहे। यहां बहस इस बौद्धिक आंदोलन की प्रकृति को लेकर है जिसका नामकरण पन्द्रहवीं और सोलहवीं शताब्दी के दौरान इतालवी बुद्धिजीवी अनुभव के नाम पर 'नवजागरण' रखा गया।

मार्क्सवादी इतिहासकारों में सबसे पहले सुशोभन सरकार ने बंगाल में विकसित हो रही सामाजिक, धार्मिक, साहित्यिक और राजनीतिक गतिविधियों का विश्लेषण किया। 1946 में प्रकाशित अपने लेख 'नोट्स ऑन द बंगाल रेनेसेंस' में उन्होंने यह घोषणा की थी कि भारत के आधुनिक जागरण में बंगाल की भूमिका की तुलना यूरोपीय नवजागरण में इटली की भूमिका से की जा सकती है। 'ब्रिटिश शासन के प्रभाव, बुर्जुआ अर्थव्यवस्था और आधुनिक पश्चिमी संस्कृति के सबसे पहले बंगाल में प्रविष्ट होने से' वहां 'आधुनिक' आंदोलन उदित हुआ। इसलिए अंग्रेजों द्वारा भारत में लाई इस आधुनिकता से 'जो जागरण हुआ उसे बंगाल नवजागरण के नाम से जाना गया।' इसने इस हद तक बौद्धिक ऊर्जा निःसृत की 'जिससे बंगाल में आधुनिकता की लहर दौड़ गई और वह लगभग एक शताब्दी तक इस मामले में पूरे भारत से आगे रहा।'

उन्नीसवीं शताब्दी में जिन बौद्धिक कार्यकलापों की यह खुशनुमा तस्वीर प्रस्तुत की गई थी उस पर अब गंभीर सवाल उठाए जा रहे हैं। बंगाल या भारतीय नवजागरण की अवधारणा की आलोचना की गई। आलोचकों ने बताया कि यूरोपीय नवजागरण के विपरीत उन्नीसवीं शताब्दी

का बौद्धिक ऊफान का दायरा सीमित था और इसकी प्रकृति अपेक्षाकृत कम आधुनिकतावादी थी। इस पर 'साम्राज्यवादी' और 'आधुनिकतावादी' द्विभाजन लागू नहीं किया जा सकता क्योंकि तथाकथित नवजागरण में बुद्धिजीवी का व्यक्तित्व विखंडित था। अतीत से वे अपना नाता लगभग नहीं तोड़ पाए थे और अभी भी वे आधुनिकता को बौद्धिक स्तर पर ही अपना पाए थे। अधिकांश बुद्धिजीविओं ने अपने सिद्धांतों को अपनी ही रोजमर्रा की जिंदगी पर लागू करने की हिम्मत नहीं की थी और ईश्वरचंद्र विद्यासागर जैसे बुद्धिजीवियों, जिन्होंने अपने आदर्शों के लिए लगातार अभियान चलाया, अपने उद्देश्य में असफल रहे। अधिकांश मामलों में अपनी नीतियों और आचरण से उन्हीं परम्परागत धर्म पुस्तकों से जुड़ने की कोशिश की गई जिनका बुद्धिजीवी वैचारिक स्तर पर विरोध कर रहे थे। इसके अलावा यह बौद्धिक आंदोलन केवल संभ्रांत हिन्दू ढांचे तक ही सीमित था जिन्होंने निम्न जातियों और मुसलमानों की समस्याओं और सच्चाइयों को शामिल नहीं किया। वे सामाजिक शक्तियां जो उन्हें ठोस आधार प्रदान कर सकती थीं और आधुनिकता की दिशा में ले जा सकती थीं, का नामोनिशान नहीं था। इन चिंतकों ने अपने सुधारों को लागू करने के लिए औपनिवेशिक शक्ति से गुहार लगाई परंतु औपनिवेषिक राज्य ने किसी भी प्रकार के परिवर्तनमूलक कदम उठाने में रूचि नहीं दिखलाई क्योंकि इससे परम्परावादियों की नाराजगी का खतरा था जो बहुमत में थे। इससे सुधारक निरूत्साहित हुए और उन्नींसवीं शताब्दी में इस आंदोलन का अवसान हो गया। कुछ मार्क्सवादी इतिहासकारों ने भारतीय संदर्भ में नवजागरण की अवधारणा की आलोचना की है। बरून डे ने *'द कोलोनियल कान्टेक्स्ट ऑफ बंगाल रेनेसेन्स'* (1976) और *'ए हिस्टोरियोग्राफिक क्रिटिक ऑफ रेनेसेन्स एनालोगस फॉर नाइन्टीन्थ सेंचुरी इंडिया':* अशोक सेन ने अपनी पुस्तक ईश्वरचंद्र विद्यासागर *ऐंड हिज इलूसिव माइलस्टोन* (1977), सुमित सरकार ने अपने लेख *'राममोहन राय ऐंड द ब्रेक वीथ द पास्ट'* (1975), *'द कॉम्प्लेक्सिटिज ऑफ यंग बंगाल* (1973), और *'द रेडिकलिज्म ऑफ इन्टलेक्चुअल्स'* (1977), (ये सभी लेख अब *ए क्रिटिक ऑफ कोलोनियल इंडिया* (1985) नामक एक पुस्तक में संकलित हैं) और 1977 से 1992 तक के. एन. पनिकर ने इस विषय पर अगल-अलग लेख लिखे जो उनकी पुस्तक *कल्चर, आइडियोलॉजी, हेजीमनी* (1995) में संकलित हैं।

22.7 मार्क्सवादी इतिहास-लेखन के तहत अन्य प्रवृत्तियां और इतिहासकार

जैसा कि प्रस्तावना में हमने बताया था कि भारत के मार्क्सवादी इतिहास-लेखन पर पूरे विस्तार से बात करना यहां संभव नहीं है। इस पूरी चर्चा को एक इकाई में नहीं समेटा जा सकता। अभी तक हमने इससे संबंधित कुछ प्रवृत्तियां, विचारों और इतिहासकारों की चर्चा की है। इस भाग में हम संक्षेप में कुछ अन्य प्रवृत्तियों और इतिहासकारों का उल्लेख करने जा रहे हैं।

कई इतिहासकारों ने मार्क्सवादी पद्धति अपनाकर प्राचीन भारत का अध्ययन किया है। आर.एस. शर्मा, रोमिला थापर, डी. एन. झा, बी. डी. चटोपाध्याय और कुमकुम राय इनमें उल्लेखनीय हैं। उनके अनुसंधानों से प्राचीन भारत के बारे में हमारी दृष्टि और समझ बढ़ी है। आर.एस. शर्मा की पुस्तक *इंडियन फ्यूडलिज्म* की चर्चा हम पहले ही कर चुके हैं। इसके अलावा *प्राचीन भारत में शूद्र* (1958) में उन्होंने प्राचीन भारत की निम्न जातियों की चर्चा की है। इसके अलावा उनकी कई पुस्तकों जैसे *लाइट ऑन अर्ली इंडियन सोसाइटी ऐंड इकोनोमी* (1966), *मैटेरियल कल्चर ऐंड सोशल फॉरमेशन इन एन्सिएंट इंडिया* (1983) और *अरबन डिके इन इंडिया* (1987) में तत्कालीन विवाह, जाति, भूमि अनुदान, दास प्रथा, सूदखोरी और महिलाओं की दशा का चित्रण किया गया है। इन सभी पुस्तकों से प्राचीन और आरंभिक मध्यकालीन भारत को समझने में काफी मदद मिली है।

इसी प्रकार रोमिला थापर ने प्राचीन भारत पर काम किया और इस काम ने ऐतिहासिक अनुसंधान का दायरा विकसित किया। उन्होंने प्राचीन काल को नए दृष्टिकोण से देखा और पहले से चली आ रही कई धारणाओं को खंडित किया। उन्होंने प्राच्यवादी निरंकुशता, आर्य प्रजाति और अशोक की अहिंसा के संबंधी पहले से चली आ रही मान्यताओं को खंडित किया। *अशोक ऐंड द डिक्लाइन ऑफ द मौर्याज* (1963), *एन्सिएंट इंडियन सोशल हिस्ट्री* (1978), *फ्रोम लिनेज टू स्टेट* (1984) और *इन्टरप्रेटिंग अर्ली इंडिया* (1992) इनकी कुछ पुस्तकें हैं जिन्हें पढ़कर प्राचीन भारतीय इतिहास को नए नजरिए से देखने की दृष्टि मिलती है और ज्ञान में समृद्धि होती है।

मार्क्सवादी इतिहासकारों ने मध्यकालीन भारत के इतिहास पर भी विचार किया है। नुरूल हसन, सतीश चंद्र, इरफान हबीब और अथर अली ऐसे कुछ महत्वपूर्ण मार्क्सवादी इतिहासकार हैं। उन्होंने विस्तार से मध्ययुगीन भारतीय समाज, राजनीतिक व्यवस्था और अर्थव्यवस्था का अध्ययन किया है। इनमें से इरफान हबीब का कार्य खासतौर पर विद्वता और कल्पना का अद्भुत उदाहरण है। उन्होंने अपनी पुस्तक *द एग्रेरियन सिस्टम ऑफ मुगल इंडिया* (1963) में मुगल अर्थव्यवस्था का अध्ययन किया है। यह एक बेहतरीन और अपूर्व कृति है। उन्होंने अपनी इस पुस्तक में बताया है कि उत्तर मध्यकाल के दौरान केन्द्रीकृत शासकीय वर्ग (राज्य) और कृषक वर्ग के बीच आधारभूत अन्तर्विरोध था। परंतु इसके अलावा राज्य और जमींदारों, अस्पृश्यों और शेष समाज, तथा कबीलों और किसानों के बीच भी अन्तर्विरोध नजर आता है। हबीब का मानना है कि 'इन सभी के पीछे ज्यादा से ज्यादा लगान वसूल करना मुख्य उद्देश्य था। लगान से बड़े शहरी क्षेत्रों का बोझ ढोया जाता था। परंतु ज्यादा लगान वसूल करने के कारण गांव की दुर्दशा हो गई, जमींदार भी नाराज हो गए जिनका हिस्सा इस सिलसिले में मारा गया और किसानों ने भी विद्रोह कर दिया।' इस पुस्तक के अलावा मध्यकालीन भारतीय इतिहास पर और भी पुस्तकें लिखी गई हैं जिनमें प्रमुख हैं : *एन एटलस ऑफ मुगल एम्पायर* (1982) और उनकी सम्पादित पुस्तक *द कैम्ब्रिज इकोनोमिक हिस्ट्री ऑफ इंडिया,* खंड I (1982)। इसके अलावा उन्होंने कई पुस्तकें और लेख लिखे जिसमें *कास्ट ऐंड मनी इन इंडियन हिस्ट्री* (1987), *इन्टरप्रेटिंग इंडियन हिस्ट्री* (1988), *और एस्सेज इन इंडियन हिस्ट्री : टुआड्र्स ए मार्क्सिस्ट पर्सेप्शन* (1995), महत्वपूर्ण हैं। इन पुस्तकों में भारतीय इतिहास के विभिन्न युगों की छानबीन और टिप्पणी की गई है।

मार्क्सवादी इतिहासकारों ने आधुनिक भारतीय इतिहास और औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था के कई पक्षों पर विस्तार से लिखा है इसके अलावा कृषक इतिहास और श्रम इतिहास और सामाजिक इतिहास के क्षेत्र में भी मार्क्सवादी इतिहासकारों ने पर्याप्त काम किया है।

22.8 सारांश

मार्क्सवादी इतिहासकारों का भारतीय इतिहास-लेखन के क्षेत्र में भरपूर योगदान है। मार्क्सवादी इतिहासकारों ने भारतीय इतिहास के सभी क्षेत्रों और युगों और विषयों पर जमकर लेखन किया है। कई क्षेत्रों में तो उनके लेखन ने इतिहास-लेखन की धारा ही बदल दी। मार्क्सवादी इतिहासकारों का कोई एकल गुट नहीं है। जैसा कि हमने अपने विचार विमर्श के दौरान देखा इसकी अनेक धाराएं और प्रवृत्तियां हैं और मार्क्सवादी इतिहासकारों के बीच विचारों का भी वैविध्य है। इसके बावजूद उनमें कुछ साझा तत्व भी शामिल है।

राजवंशों के इतिहास के स्थान पर आम जनता का इतिहास लिखा जाने लगा। राजनीतिक इतिहास के स्थान पर अर्थव्यवस्था और समाज के अध्ययन पर विशेष बल दिया जाने लगा। सामंतवाद और उपनिवेशवाद जैसे सामाजिक और आर्थिक व्यवस्थाओं के अध्ययन की शुरूआत हुई और सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक परिवर्तनों को किसी व्यक्तिगत सम्राट या शासक के परिप्रेक्ष्य में नहीं बल्कि अर्थव्यवस्था और वर्गों के आपसी संघर्ष के संदर्भ में

देखा जाने लगा। प्रविधि के मामले में कोसाम्बी की कृतियों में इतिहास-लेखन का अन्तर। विषयक दृष्टिकोण विकसित हुआ जिसमें साहित्य, पुरातत्व, भाषा, मानवशास्त्र, मुद्राशास्त्र और सांख्यिकी को शामिल किया गया। इसके अलावा मार्क्सवादी इतिहास-लेखन में वर्णन और विवरण के स्थान पर व्याख्या पर विशेष बल दिया गया।

22.9 अभ्यास

1) भारतीय राष्ट्रवाद के संबंध में मार्क्सवादी इतिहास-लेखन पर टिप्पणी लिखिए। इस मुद्दे पर विभिन्न मार्क्सवादी इतिहासकारों की मत भिन्नता की चर्चा कीजिए।

2) भारत में मार्क्सवादी इतिहास-लेखन के विकास में डी.डी. कोसाम्बी की भूमिका क्या है ?

3) 'भारतीय नवजागरण' के संबंध में विभिन्न मतों पर टिप्पणी कीजिए।

22.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें

डी.डी.कोसाम्बी, *ऐन इंट्रोडक्शन टू द स्टडी ऑफ इंडियन हिस्ट्री* (बम्बई, पोपुलर प्रकाशन, 1956, 1985)

रोमिला थापर, *' द कंट्रिब्यूशन ऑफ डी.डी.कोसाम्बी टू इंडोलॉजी,'* रोमिला थापर, *कल्चरल पास्ट्सः एस्सेज इन अर्ली इंडियन हिस्ट्री* (नई दिल्ली, ओयूपी, 2000)

आर. पाम दत्त, *इंडिया टुडे* (कलकत्ता, मनीषा, 1940, 1979)

ए.आर.देसाई, *सोशल बैकग्राउंड ऑफ इंडियन नेशनलिज्म* (बम्बई, 1948,2000)

हरबंस मुखिया (संपा.) *द फ्यूडलिज्म डिबेट* (नई दिल्ली, मनोहर, 2000)

बिपन चंद्र, *द राइज ऐंड ग्रोथ ऑफ इकोनोमिक नेशनलिज्म इन इंडिया* (नई दिल्ली, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, 1966, 1991)

बिपन चंद्र, *नेशनलिज्म ऐंड कोलोनियलिज्म इन मॉडर्न इंडिया* (नई दिल्ली, ओरिएन्ट लॉन्गमैन, 1979, 1984)

बिपन चंद्र, *इंडियाज स्ट्रगल फॉर इन्डिपेन्डेन्स,* 1857-1947 (नई दिल्ली, पेंग्विन बुक्स, 1988)

सुमित सरकार, *द स्वदेशी मूवमेंट इन बंगाल,* 1903-1908 (नई दिल्ली, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, 1973, 1977)

सुमित सरकार, *ए क्रिटिक ऑफ कोलोनियल इंडिया* (कलकत्ता, पेपिरस, 1985)

सुशोभन सरकार, *ऑन द बंगाल रेनेसेन्स* (कलकत्ता, पेपिरस, 1979, 1985)

के.एन. पानिक्कर, *कल्चर, आइडियोलॉजी, हेजीमनीः इंटेलेकच्यूल्स ऐंड सोशल कांशसनेस इन कोलोनियल इंडिया* (नई दिल्ली,तुलिका, 1995)

रमेश चन्द्र शर्मा, इत्यादि *हिस्टोरियोग्राफी ऐंड हिस्ट्रोरियन्स इन इंडिया सिन्स इन्डिपेन्डेन्स* (आगरा, एम. जी. पब्लिशर्स)।

इकाई 23 कैम्ब्रिज स्कूल

इकाई की रूपरेखा

23.1 प्रस्तावना

राष्ट्रवाद के युग में भारतीय राजनीति को पुनर्व्याख्यायित करनेवाले कैम्ब्रिज के इतिहासकारों के समूह को 'कैम्ब्रिज स्कूल' के नाम से जाना गया। उनके अनुसार साम्राज्यवाद और राष्ट्रवाद के बीच किसी प्रकार का अन्तर्विरोध नहीं था। उनके अनुसार स्थानीय हित और विभिन्न गुटों के बीच विद्वेष भारतीय राष्ट्रवाद के इतिहास की प्रमुख विशेषताएं थीं। इस प्रकार के स्थानीय मनमुटावों के बावजूद यदि भारतीय राष्ट्रवाद का उदय हुआ तो इसका कारण यह था कि अंग्रेज शासन ने सरकार को केन्द्रीकृत किया और उन्नीसवीं शताब्दी के अंत और बीसवीं शताब्दी के आरंभ में राजनीतिक प्रतिनिधित्व की शुरुआत की। स्थानीय सरोकारों में सरकार के हस्तक्षेप के फलस्वरूप स्थानीय राजनीतिज्ञ केन्द्र की ओर अग्रसर हुए। विरोधाभास यह है कि भारतीय राष्ट्रवाद सरकार की प्रेरणा से उत्पन्न हुआ। सत्ता की केन्द्रीयता भारतीय राष्ट्रवाद की इस व्याख्या के केन्द्र में थी। यह विचार *लोकेलिटी, प्रोविन्स ऐंड नेशनः एस्सेज ऑन इंडियन पॉलिटिक्स,* 1870 से 1940, शीर्षक से संग्रहीत कैम्ब्रिज इतिहासकारों के लेखों के संकलन के रूप में उपलब्ध है। इसे जॉन गेलेघर, गोर्डन जॉनसन और अनिल सील ने सम्पादित किया था और 1973 में कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस द्वारा प्रकाशित किया गया। इसे कैम्ब्रिज जरनल *मॉडर्न एशियन स्टडीज* के अंक के रूप में और पुस्तक के रूप में अलग से प्रकाशित किया गया। आलोचकों ने इसके लेखकों पर भारतीय राष्ट्रवाद को बदनाम करने का आरोप लगाया और इस समूह को 'कैम्ब्रिज स्कूल' या सिर्फ 'कैम्ब्रिज' के नाम से पुकारा गया। इस पुस्तक के प्रकाशन के बाद इस पर तीखी बहस हुई और भारत के मार्क्सवादी और उदारवादी इतिहासकारों ने इस अभिधारणा की कटु आलोचना की। निस्संदेह कैम्ब्रिज स्कूल का भारतीय इतिहास-लेखन पर प्रभाव पड़ा।

23.2 पृष्ठभूमि

इसके पहले 1960 के दशक में इतिहास-लेखन की दो विचारधाराएं सामने आईं। एक ने मार्क्सवादी स्कूल का समर्थन किया और दूसरे ने पश्चिम के संभ्रांत सिद्धांत को आगे बढ़ाया। इसी संभ्रांत विचारधारा से कैम्ब्रिज स्कूल का विकास हुआ। कैम्ब्रिज के सिद्धांतों को समझने

के लिए 1960 के दशक में हुए बहसों से रू ब रू होना आवश्यक है। इस बहस में कालांतर में कैम्ब्रिज स्कूल को भी शामिल किया गया।

संक्षेप में बहस तीन सवालों के इर्द गिर्द घूमता रहा। सबसे पहला यह कि उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध और बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में भारत में अंग्रेजों के राज में आधुनिक राजनीति की धुरी क्या थी? क्या राजनीति अर्थशास्त्र से परिचालित थी या यह अंग्रेजी शिक्षा, राजनीतिक प्रतिनिधित्व और अंग्रेजों द्वारा किए गए अन्य संस्थागत प्रयोगों का प्रतिफलन था? मार्क्सवादियों का मानना है कि यह अर्थशास्त्र से प्रेरित था जबकि संभ्रांत सिद्धांतकारों का मानना था कि यह अंग्रेजों के प्रयत्नों से संभव हुआ। दूसरा सवाल था कि भारतीय उपमहाद्वीप में राजनीतिक परिवर्तन के अध्ययन के लिए सर्वाधिक उपयुक्त इकाई क्या है? यह एक राष्ट्र था या क्षेत्र? मार्क्सवादियों ने राष्ट्रीय परिवेश के संदर्भ में इस समस्या का विश्लेषण किया जबकि संभ्रांत सिद्धांतकारों के अनुसार यह क्षेत्र थे जो ब्रिटिश भारत में होनेवाले राजनीतिक परिवर्तन के केन्द्र बिन्दु थे। इसके अलावा इस बात को लेकर भी मतभेद था कि किस सामाजिक समूह को केन्द्र में रखा जाए। क्या वर्ग और वर्ग संघर्ष पर केन्द्रित किया जाए या अंग्रेजी पढ़े लिखे शिक्षित वर्ग और राजनीतिक प्रतिनिधित्व पाने की होड़ में लगी विभिन्न जातियों और समुदायों के टकराव को सामने रखकर बातचीत की जाए? स्वाभाविक तौर पर मार्क्सवादी इतिहासकारों ने वर्ग पर और संभ्रांत इतिहासकारों ने जाति, समुदाय और पश्चिमी शिक्षा से युक्त संभ्रांत वर्ग पर ध्यान केंद्रित किया।

कैम्ब्रिज स्कूल का उदय संभ्रांत सिद्धांत से हुआ, पर यह इसकी एक शाखा थी। इसलिए उनकी व्याख्या संभ्रांत सिद्धांतकारों से काफी प्रभावित है। कैनबेरा, ससेक्स और कैम्ब्रिज जैसे पश्चिमी विश्वविद्यालयों के इतिहासकारों ने भारत और सोवियत संघ में मार्क्सवादी इतिहास-लेखन की प्रतिक्रिया में अपनी व्याख्याएं प्रस्तुत कीं। भारतीय राजनीति में अंग्रेजी पढ़े लिखे शिक्षित संभ्रांत वर्ग की भूमिका पर बल देने के लिए लगातार तीन किताबें सामने आईं : डी.ए. लो (संपा.) *साउंडिंग इन मॉडर्न साउथ एशियन हिस्ट्री* (लंदन, 1968); जे.एच.ब्रूमफिल्ड, *एलिट कनफ्लिक्ट इन ए प्लूरल सोसाइटी: ट्वेन्टिएथ सेंचुरी बंगाल* (बर्कले और लॉस एंजेल्स, 1968): और अनिल सील, *द इमरजेंस ऑफ इंडियन नेशनलिज्म: कॉम्पिटिशन ऐंड कोलाबरेशन इन द लेटर नाइनटीन्थ सेंचुरी* (कैम्ब्रिज, 1968)। इसमें मार्क्सवादियों के खिलाफ तीन बातें कही गई। सबसे पहले यह कि आधुनिक राजनीति के पीछे, जिसमें राष्ट्रवादी राजनीति भी शामिल थी, मुख्य प्रेरक शक्ति आर्थिक बदलाव नहीं था बल्कि अंग्रेजों द्वारा किया गया संस्थागत नयापन और परिवर्तन था। अनिल सील ने अंग्रेजी शिक्षा द्वारा मुहैया कराए गए संस्थागत अवसरों खासतौर पर छोटी सरकारी नौकरियां पाने और कानून, पश्चिमी चिकित्सा, पत्रकारिता और अध्यापन के क्षेत्र में नई शुरूआत पर बल दिया। जॉन ब्रुमफिल्ड के अनुसार इस संस्थागत अवसर से राजनीतिज्ञों का एक नया दल तैयार हुआ। नया संविधान बना, प्रतिनिधि चुनकर आने लगे और नए प्रकार की सरकार का निर्माण हुआ। दूसरी यह कि राष्ट्र के बजाए क्षेत्र पर आधारित व्याख्या और प्रत्येक क्षेत्र में परम्परागत संस्कृतियों पर विशेष बल दिया गया। इस क्षेत्रीय पृष्ठभूमि के संदर्भ में ही संभ्रांत सिद्धांतकारों ने संस्थागत परिवर्तनों द्वारा किए गए राजनीतिक परिवर्तनों की बात कही। तीसरे, वर्ग और वर्ग संघर्ष आधारित व्याख्या की बजाए यह बात कही गई कि अंग्रेजी शिक्षा और विधायी प्रतिनिधित्व का अवसर पाने के लिए विभिन्न क्षेत्रों तथा जाति और समुदायों में होड़ मच गई।

23.3 कैम्ब्रिज स्कूल का उदय

अनिल सील के शोध प्रबंध *इमरजेंस ऑफ इंडियन नेशनलिज्म* (1968) का निर्देशन कैम्ब्रिज के जॉन गेलेघर ने किया था। इस शोध ग्रंथ में जॉन गेलेघर की अभिधारणा को ही आगे बढ़ाया गया। अनिल सील के प्रथम पीढ़ी के छात्रों खासतौर पर जुडिथ ब्राउन, जिन्होंने *गांधीज राइज टू पावर* (कैम्ब्रिज,1972) लिखी, ने भी इस परम्परा को आगे बढ़ाया। इनके

अनुसार अंग्रेजी पढ़े लिखे संभ्रांत वर्ग के लोग सबसे पहले बंगाल, बम्बई और मद्रास के अल्पसंख्यक उच्च जाति के थे और पिछड़ी जातियों और क्षेत्रों की राजनीति इस अंग्रेजी शिक्षित राष्ट्रवाद के खिलाफ अल्पसंख्यकों का प्रतिरोध था। हालांकि बाद में जॉन गेलेघर और उनके विद्यार्थियों ने अपने विचार में तेजी से परिवर्तन किया और कैम्ब्रिज स्कूल इसी बदले हुए विचार का प्रतिफलन है।

जॉन गेलेघर ने रोनाल्ड रॉबिन्सन के साथ पहले *अफ्रीका ऐंड द विक्टोरियन्स* (1961) शीर्षक पुस्तक लिखी थी जिसमें 1960 के दशक के आरंभ में साम्राज्यी अध्ययन को आलोचनात्मक दृष्टि से देखने का काम किया। संक्षेप में गेलेघर और रॉबिन्सन ने यह कहा था कि साम्राज्यवाद यूरोप में नई आर्थिक शक्तियों का प्रतिफलन नहीं था बल्कि अफ्रीका और एशिया में स्थानीय कारणों से हुए राजनीतिक ह्रास का परिणाम था। देसी समाजों के आन्तरिक कलह से पैदा हुई राजनीति शून्यता को भरने के लिए साम्राज्यवाद को मजबूरन आगे आना पड़ा। गेलेघर के एक कुशाग्र युवा शिष्य अनिल सील ने भारत में आधुनिक राजनीति के उदय की व्याख्या करते हुए भारतीय समाज के आन्तरिक राजनीतिक कलह पर प्रकाश डाला और खासतौर पर जाति तथा विभिन्न क्षेत्रों, समुदायों और जातियों के बीच अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त करने की होड़ को जायज बताया। 1970 के दशक के आरंभ में जॉन गेलेघर, अनिल सील और गोर्डन जॉनसन के इर्द गिर्द शोधार्थियों का एक नया समूह खड़ा हुआ। (गोर्डन जॉनसन *मॉडर्न एशियन स्टडीज* के सम्पादक थे, और ये अनिल सील के छात्र थे जिन्होंने महाराष्ट्र की राजनीति पर शोध किया था। इनका शोध अनिल सील और जुडिथ ब्राउन से काफी मिलता जुलता है)। यह समूह कैम्ब्रिज स्कूल के नाम से जाना गया। इस समूह ने अपने को पहले से चले आ रहे संभ्रांत सिद्धांत से अलग किया और जारी बहस के सवालों के नए जवाब पेश किए। हालांकि इनका भी यह मानना था कि राष्ट्रवाद मूलतः सत्ता प्राप्त करने का एक खेल था।

इस दौरान जो नई दृष्टि विकसित हुई उसमें आधुनिक राजनीति के पीछे अंग्रेजी शिक्षा की उतनी महत्वपूर्ण भूमिका नहीं थी और न ही औपनिवेशिक शासन के दौरान हुए आर्थिक परिवर्तन। बल्कि इसके विपरीत उपमहाद्वीप में सरकार का बढ़ता केन्द्रीकरण और इसके ढांचे के तहत प्रतिनिधित्व के बढ़ते तत्व की महत्वपूर्ण भूमिका थी। इसके द्वारा ग्रामीण क्षेत्र में सरकार की मौजूदगी महसूस की गई और विधाई प्रतिनिधित्व की नई शैली के जरिए दूर-दराज के इलाकों को केन्द्र से जोड़ा गया। सरकार के हस्तक्षेप से अंग्रेजी राज में आधुनिक राजनीति के लिए जगह बनी। दूसरे, क्षेत्र या राष्ट्र के बजाए स्थानीय स्थल विशेष को राजनीति का वास्तविक आधार माना गया। राजनीति से जुड़े ये 'वास्तविक हित' स्थानीय हित थे न कि ये मिथकीय राष्ट्रीय हित या यहां तक कि क्षेत्रीय-सांस्कृतिक हित भी नहीं थे। स्थानीय हित ने सम्पूर्ण देश के राष्ट्रीय हित या क्षेत्र के सांस्कृतिक हित को विस्थापित कर दिया। तीसरे, राजनीति में जाति या समुदाय या वर्ग के आधार पर नहीं बल्कि स्थान विशेष में संरक्षक-आश्रित संबंध के आधार पर निर्मित गुटों के रूप में इकाइयां स्थापित हुई। मालिक-ग्राहक का यह गठजोड़ वर्ग, जाति या समुदाय की सीमाओं का अतिक्रमण करता था। स्थान के अनुसार संरक्षक जिनके हित में गुटबंदी की जाती थी वे स्थानीय तौर पर बाहुबली लोग होते थे, वे या तो शहर में रहनेवाले नामी गरामी होते थे या गांव में रहनेवाले प्रभावशाली लोग थे। स्थानीय बाहुबलियों को अंग्रेजी पढ़े लिखे पेशेवर शिक्षित संभ्रांतों की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली माना जाता था। सरकार में बढ़ती प्रतिनिधिकता और सभी स्थलों पर सरकार की बढ़ती मौजूदगी के फलस्वरूप राष्ट्रीय राजनीति में स्थानीय संरक्षकों का महत्व बढ़ गया।

23.4 कैम्ब्रिज स्कूल की प्रमुख कृतियां

कैम्ब्रिज स्कूल का उदय 1960 के दशक में रॉबिनसन और गेलेघर के *अफ्रीका ऐंड द विक्टोरियन्स* और सील के *इमरजेन्स ऑफ इंडियन नेशनलिज्म* से माना जा सकता है परंतु

1970 के दशक में *लोकेलेटी, प्रोविन्स ऐन्ड नेशन्स* के प्रकाशन के साथ कैम्ब्रिज स्कूल ने अपनी उपस्थिति दर्ज की। कई लेखों और पुस्तकों के माध्यक से कैम्ब्रिज स्कूल को अभिव्यक्त किया गया, इनमें प्रमुख हैं : जॉन गेलेघर, गोर्डन जॉनसन और अनिल सील (संपा.), *लोकेलेटी, प्रोविन्स ऐन्ड नेशन्स* (1973); गोर्डन जॉनसन, *प्रोविन्सियल पोलिटिक्स ऐन्ड इंडियन नेशनलिज्मः बम्बई ऐंड इंडियन नेशनल कांग्रेस 1890 से 1905* (1973); सी.ए.बेली, *द लोकल रूट्स ऑफ इंडियन पोलिटिक्सः एलाहाबाद 1880-1920* (1975); डी.ए. वाशब्रुक, *द इमरजेन्स ऑफ प्रोविन्सियल पोलिटिक्सः मद्रास प्रेसिडेन्सी 1870-1920* (1976); सी.जे. बेकर, *द पोलिटिक्स ऑफ इंडिया 1920-1937* (1976); बी.आर.टॉमलिन्सन, *द इंडियन नेशनल कांग्रेस ऐंड द राज 1929-1942* (1976); और सी.जे.बेकर, गोर्डन जॉनसन और अनिल सील (संपा.), *पावर, प्रोफिट ऐंड पोलिटिक्स* (1981) पहला और अंतिम कैम्ब्रिज स्कूल के सदस्यों के लेखों का संकलन है। शेष अनिल सील और गोर्डन जॉनसन के निर्देशन में कैम्ब्रिज और ऑक्सफोर्ड के शोधग्रंथ हैं।

इन पुस्तकों में कुछ हद तक अभिव्यक्ति और अभिप्राय की दृष्टि से विभिन्नता हो सकती है परंतु इनमें कई समानताएं भी हैं। एक साथ मिलकर वे कैम्ब्रिज स्कूल का प्रतिनिधित्व करते हैं। अनिल सील के निर्देशन में किए गए सभी कैम्ब्रिज शोधग्रंथ एक ही विशिष्टता से युक्त नहीं हैं। उदाहरण के लिए मुशिरूल हसन का *नेशनलिज्म ऐंड कम्यूनल पोलिटिक्स इन इंडिया 1916-1928* (1979), और *रजत कांत राय का सोशल कनफ्लिक्ट ऐंड पोलिटिकल अनरेस्ट इन बंगाल 1875-1927* (1984), में सत्ता के खेल पर बल नहीं दिया गया है बल्कि इसके विपरीत विचारात्मक और आर्थिक कारकों का हवाला दिया गया है। अनिल सील के निर्देशन में होने के बावजूद ये कैम्ब्रिज स्कूल का प्रतिनिधित्व नहीं करते हैं। कैम्ब्रिज स्कूल में मुख्य रूप से व्यक्ति और गुटों द्वारा सत्ता की खोज पर बल दिया गया है। वे अपनी खोज को राष्ट्र (मार्क्सवादियों द्वारा जिसे सम्पूर्ण माना गया) और क्षेत्र (संभ्रांत सिद्धांतकारों ने इसे अलग माना है) को बेधते हुए स्थानीयता तक पहुंचते हैं; और इस स्थानीयता में भी उनका ध्यान वर्गों या जातियों जैसे सामाजिक समूहों पर नहीं बल्कि उनके सामाजिक कोटियों के संबंधों पर है। उनके विश्लेषण में इन स्थानीय गुटों और सम्पर्कों के धीरे-धीरे आपस में जुड़ने और अखिल भारतीय ढांचे के रूप में बदलने पर बल दिया गया है जिसके फलस्वरूप दूर-दराज के इलाकों में भी केन्द्र की सत्ता का हस्तक्षेप हुआ।

सरकार के लगातार हो रहे केन्द्रीकरण के साथ-साथ केन्द्रीकृत ढांचे में प्रातिनिधिक तत्व की गुंजाइश बढ़ी। स्थानीय राजनीति को सामने लाया गया और यह राष्ट्रीय राजनीति में समाहित हो गया। इस दृष्टि से राष्ट्रवाद और साम्राज्यवाद ने चुपके-चुपके हाथ मिलाया था।

23.5 कैम्ब्रिज व्याख्या की विशिष्टताएं

कैम्ब्रिज स्कूल में स्थानीयता और वहां मौजूद संबंधों पर विशेष बल दिया गया है। सी.ए.बेली ने उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में इलाहाबाद शहर की राजनीति का विश्लेषण करते हुए स्थानीय राजनीति का हवाला दिया है और बताया है कि किस प्रकार प्रभावशाली लोग अपने प्रभाव में रहने वाले लोगों को संतुष्ट करने का प्रयास करते हैं। शहर में बड़े-बड़े सेठ साहूकार रहा करते थे जिन्हें रईस यानी प्रसिद्ध व्यक्ति का दर्जा प्राप्त था। इन सेठ साहूकारों और रईसों के विभिन्न प्रकार के प्रभाव क्षेत्र थे जिनमें कई प्रकार के समूह शामिल थे। इन रईसों के सम्पर्क में सभी जातियों और समुदायों के लोग थे। बाद में यही सम्पर्क इलाहाबाद की राष्ट्रीय राजनीति में महत्वपूर्ण हो गई।

बम्बई की राजनीति का अध्ययन करते हुए गोर्डन जॉनसन ने इससे सहमति व्यक्त की। प्रत्येक भारतीय राजनीतिज्ञ की एक खास विशिष्टता यह थी कि प्रत्येक राजनीतिज्ञ को भारतीय समाज के सभी स्तरों से जुड़े विविध और एक दूसरे के विपरीत हितों की देखभाल करनी पड़ती थी और ऐसा करते हुए वे वर्ग, जाति, क्षेत्र और धर्म का अतिक्रमण करते थे।

अनिल सील ने अपनी पुस्तक *लोकेलिटी, प्रोविन्स और नेशन्स* की प्रस्तावना लेख *'इम्पेरियलिज्म ऐंड नेशनलिज्म इन इंडिया'* में इसी बात पर विशेष बल दिया था। इनके अनुसार, राजनीति मूलतः एक स्थानीय मामला था। वहां प्रभाव, हैसियत और संसाधनों के लिए होड़ मची हुई थी। इस होड़ में संरक्षक अपने मातहतों को अलग-अलग गुटों में बांटकर मदद करता था। इस प्रकार उसके मातहतों में किसी प्रकार का तालमेल या साठगांठ नहीं हुआ करती थी। इसकी बजाए वे बड़े लोगों और उनके अनुयाइयों के संघ हुआ करते थे। दूसरे शब्दों में ये गुट एक दूसरे से जुड़े तो थे परंतु इनका संबंध खड़ी रेखा (अर्थात ऊपर से नीचे) में था न कि पड़ी रेखा (अर्थात् अगल-बगल) का। स्थानीय टकराव की स्थिति में विरले ही जमींदार और जमींदार का, शिक्षित और शिक्षित का, मुसलमान और मुसलमान का, ब्राह्मण और ब्राह्मण का गठजोड़ हुआ करता था। हिंदू मुसलमान के साथ काम करते थे। ब्राह्मण गैर ब्राह्मणों के साथ गुट बनाया करतें थे।

कैम्ब्रिज व्याख्या के अनुसार, राजनीति की जड़ स्थानीयता अर्थात् जिला, नगरपालिका, गांव में निहित होती थी। शहर के प्रभावी लोग और गांव के बाहुबली तथाकथित कमजोर साम्राज्यी सरकार द्वारा बिना किसी हस्तक्षेप के संसाधनों का वितरण किया करते थे। परंतु उन्नीसवीं शताब्दी के अंत और बीसवीं शताब्दी के आंरभ में स्थिति बदलने लगी। डेविड वाशब्रुक के अनुसार प्रगति करने, अधिक धन कमाने और अधिक जनकल्याण और अच्छे कार्य करने के लिए साम्राज्यी शासन ने कई नौकरशाही और संवैधानिक सुधार किए जिसने ज्यादे से ज्यादे स्थानीय राजनीतिज्ञों को स्थानीय राजनीति छोड़कर केन्द्र की ओर बढ़ने के लिए बाध्य किया। जॉन गेलेघर का मानना था कि इसी सरकारी हस्तक्षेप से भारतीय राजनीति का काम करने का ढंग बदल गया। उन्होंने गलतफहमी दूर करते हुए कहा कि 'इसका मतलब यह नहीं है कि भारतीय राजनीति को सामाजिक समूहों की आवश्यकताओं के अनुसार कार्यक्रमों के साथ दलों से जोड़ दिया गया। अभी भी संरक्षक और आश्रितों के संबंधों की प्रमुखता थी। इसके अलावा स्थानीय जगहों पर फैले सम्पर्को और विभिन्न गुटों के बीच संधि की उलट फेर अभी भी प्रमुख तत्व थे। इस प्रकार ये विभिन्न प्रकार की सतही एकताओं के ऊपर स्थित थे। इसके बावजूद एक परिवर्तन यह हुआ कि अधिक से अधिक इलाकों का गठबंधन हुआ और इन्हें राजनीति के बड़े क्षेत्रों से जोड़ा गया। इन चुनावी पद्धतियों के फलस्वरूप प्रशासनिक परिवर्तन भी करने पड़े *(जॉन गेलेघर,* कांग्रेस इन डेकलाइनः बंगाल 1930 टू 1939' *लोकेलिटी, प्रोविन्स और नेशन में)।*

अपनी पुस्तक की प्रस्तावना में अनिल सील ने भी यही बात कही है। केन्द्रीकृत और प्रतिनिधिक सरकार बनने से अब भारतवासियों के लिए राजनीतिक लाभ केवल स्थानीय इलाकों तक ही सीमित नहीं रह गया। सरकार के लिए केन्द्र से ज्यादा से ज्यादा मोल भाव करने की बढ़ती शक्ति से प्रांतीय और अखिल भारतीय राजनीति का निर्माण हुआ। गांव, जिला और छोटे शहरों की राजनीति बढ़कर केन्द्र तक पहुंचने लगी। परंतु मद्रास नेटिव एसोशिएशन या भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस जैसे राजनीतिक संगठन प्रांतों और केन्द्र में राजनीति का नया खेल खेलने लगे। 'सरकार के औपचारिक ढांचे ने राजनीति का ढांचा निर्मित किया और इसी ढांचे के तहत काम करते हुए भारतवासी सत्ता और संरक्षण के वितरण का निर्धारण कर सकते थे।' (अनिल सील, 'इम्पेरियलिज्म ऐंड नेशनलिज्म', *लोकेलिटी, प्रोविन्स ऐंड नेशन)*

सी.जे. बेकर के अनुसार अभी तक स्थानीय प्रभावशाली व्यक्ति अपनी सत्ता का उपयोग मनमर्जी से करता था। अब उसे ब्रिटिश राज के नए प्रशासनिक और प्रातिनिधिक ढांचे के अनुसार बदलना पड़ा। बड़ी चौहदियों के आधार पर बने संगठनों पर आधारित राष्ट्रीय राजनीतिक ढांचे के अनुसार उन्हें बदलना पड़ा। जस्टिस पार्टी, हिन्दू महासभा, अखिल भारतीय मुस्लिम लीग और भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस कुछ ऐसे ही बड़े संगठन थे। कैम्ब्रिज स्कूल से जुड़े विद्वानों का मानना था कि गांधी के आने के बाद राजनीतिक बदलाव तो आया परंतु यह भी संभ्रांत लोगों के हाथ में था, यह जन आंदोलन नहीं बना। उनके अनुसार प्रत्येक

चरण में किए जानेवाले संवैधानिक सुधार अखिल भारतीय राजनीति को स्फूर्ति प्रदान करते रहे। मौंटफोर्ड सुधारों ने असहयोग आंदोलन के लिए, साइमन कमीशन ने नागरिक अवज्ञा आंदोलन और क्रिप्स मिशन ने भारत छोड़ो आंदोलन का मार्ग प्रशस्त किया। जब भी सरकार केन्द्र में नया सुधार लागू करने का प्रस्ताव करती थी जो स्थानीय इलाकों में संरक्षण के बंटवारे को प्रभावित करती थी, उसी समय राजनीतिज्ञ नए राजनीति आंदोलन छेड़ने को उठ खड़े होते थे। गोर्डन जॉनसन के अनुसार भारत में राष्ट्रवाद का विकास कालानुक्रम नहीं दिखता है। सरकार की राष्ट्रीय कार्यवाइयों के साथ राष्ट्रीय आंदोलन में भी उतार चढ़ाव होता रहा।

23.6 कैम्ब्रिज स्कूल विचार का संशयवाद

ऑक्सफोर्ड हिस्ट्री ऑफ द ब्रिटिश एम्पाय़र, खंड V, हिस्टोरियोग्राफी (1999) में कहा गया है कि कैम्ब्रिज स्कूल कांग्रेस आंदोलन के राष्ट्रवादी दावे पर सवाल खड़ी करती है और भारतीय राष्ट्रवाद को संदेह की दृष्टि से देखती है। इस संदेह के पीछे राजनीति के बारे में एक विशिष्ट धारणा है वह यह कि व्यक्ति सत्ता, संरक्षण और संसाधनों की प्राप्ति के लिए राजनीति करता है। इसके पीछे कोई सामाजिक भावना या आर्थिक दृष्टि नहीं होती बल्कि राजनीति के अपने नियम और कानून होते हैं। डी.ए. वाशब्रुक ने इस मान्यता को खारिज करते हुए कि किसी राजनीतिक संगठन को वर्ग समुदाय या जाति का आधार प्राप्त होता है, यह कहा है कि कुछ लोग सत्ता प्राप्त करने के लिए कुछ भी कर सकते हैं। सत्ता व्यक्ति अपने स्वार्थ के लिए चाहता है। सत्ता, पद और स्थान राजनीतिज्ञों का मूल लक्ष्य होता है न कि समाज को सुधारना। मद्रास प्रेसिडेन्सी जैसे समाज के बारे में खासतौर पर यह बात कही जा सकती है जहां धन कुछ लोगों के पास ही था और कोई भी महत्वपूर्ण व्यक्ति स्थिति में परिवर्तन नहीं चाहता था। सत्ता प्राप्त करने के लिए राजनीतिज्ञों को विभिन्न हितों, वर्गों और समुदायों की सहायता की जरूरत होती थी। साझा लक्ष्य यानी सत्ता प्राप्त करने के लिए व्यापारी, जमींदार, वकील, ब्राह्मण, अछूत हिन्दू, मुस्लिम सभी तबके के लोग कंधे से कंधा मिलाकर चलने को तैयार थे। इस दृष्टिकोण पर संदेहवाद इतना हावी है कि इसमें किसी भी आधारभूत सामाजिक या आर्थिक टकराव के स्थान की गुंजाइश नहीं है। इसके अलावा कैम्ब्रिज स्कूल साम्राज्यी शासन और उसकी देसी प्रजा के बीच किसी भी प्रकार के गहरे अन्तर्विरोध से इनकार करता है।

इस विचारधारा के अनुसार, साम्राज्यवाद ने वस्तुतः बृहद और वैविध्यपूर्ण उपमहाद्वीप और इसकी प्रजा को कभी नियंत्रित नहीं किया, जिनका ज्यादातर स्थानीय मुद्दों से ही सरोकार था और उन्होंने इसका विरोध भी नहीं किया। अनिल सील *द इमरजेंस ऑफ इंडियन नेशनलिज्म* में पहले ही यह कह चुके थे कि अंग्रेज शासकों से हाथ मिलाने के लिए भारतवासियों में होड़ मची हुई थी। *लोकेलिटी, प्रोविन्स और नेशन* की प्रस्तावना में वे एक कदम और आगे बढ़ गए और कहा कि यह कोई राष्ट्रीय आंदोलन था ही नहीं और न ही इसका कोई साझा लक्ष्य था। इसका नेतृत्व करनेवाले लोगों की पृष्ठभूमियां अगल-अलग थीं और इनके हित और समूह भी अगल-अलग थे। उनके अनुसार यह पूरा आंदोलन जर्जर प्रतीत होता था। 'इसकी एकता एक गप्प से ज्यादा कुछ नहीं थी इसकी शक्ति उतनी ही काल्पनिक थी जितनी कि साम्राज्यवाद की जिसे वह चुनौती देने का दावा करता था। इसका इतिहास भारतवासियों के आपसी दुश्मनी का इतिहास है। साम्राज्यवाद के साथ इनके संबंध दो कमजोर व्यक्तियों के सहयोग के रूप में व्याख्यायित किया जा सकता है। इसलिए साम्राज्यवाद और राष्ट्रवाद की पुरानी धारणाओं के आधार पर आधुनिक भारतीय इतिहास को निर्मित करना असंभव प्रतीत होता है।' (अनिल सील, 'इम्पेरियलिज्म ऐंड नेशनलिज्म', लोकेलिटी, प्रोविन्स ऐंड नेशन)

सामान्य तौर पर यह सम्पूर्ण राजनीति और खासतौर पर भारतीय राष्ट्रवाद के प्रति संदेहवादी दृष्टि है। अर्थशास्त्र या समाजशास्त्र जैसे तत्व को नकारते हुए कैम्ब्रिज स्कूल ने भारतीय राजनीति के अध्ययन के लिए शुद्ध राजनीतिक दृष्टिकोण अपनाया। इस दृष्टिकोण के अनुसार राजनीति और बाजार में व्यक्ति एक जैसी ही हरकत करता है। एक को सत्ता प्राप्त होती है दूसरे को मुनाफा और दोनों ही स्वार्थ से बंधे होते हैं।

23.7 कैम्ब्रिज स्कूल का अंत

जॉन गेलेघर, कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय में इम्पेरियल ऐंड नेवल हिस्ट्री के वेरे हार्म्सवर्थ प्रोफेसर थे। 1980 में उनकी मृत्यु हो गई। उनकी याद में कैम्ब्रिज समूह ने लेखों का संग्रह निकाला जिसे क्रिस्टोफर बेकर, गोर्डन जॉनसन और अनिल सील ने संपादित किया, जिसका नाम था *पावर, प्रौफिट ऐंड पोलिटिक्सः एस्सेज ऑन इम्पेरियलिज्म, नेशनलिज्म ऐंड चेंज इन ट्वेंटिएथ सेंचुरी पोलिटिक्स* (कैम्ब्रिज 1981)। इन लेखों में आयशा जलाल और अनिल सील का एक संयुक्त लेख 'अल्टरनेटिव टू पार्टिशनः मुस्लिम पोलिटिक्स बिट्वीन वार्स) शामिल था जिसने विभाजन के बारे में विचार को फिर से जीवित कर दिया। बाद में आयशा जलाल ने एक और महत्वपूर्ण पुस्तक लिखी जिसका शीर्षक था *द सोल स्पोक्समैनः जिन्ना, द मुस्लिम लीग ऐंड द डिमांड फॉर पाकिस्तान* (कैम्ब्रिज 1985)। इसमें उन्होंने तर्क दिया है कि मुसलमानों की स्वीकृति से एक महासंघ का निर्माण संभव था और विभाजन का विकल्प मौजूद था। परंतु **पावर, प्रॉफिट ऐन्ड पालिटिक्स** कैम्ब्रिज स्कूल का अन्तिम सामूहिक वक्तव्य था। इसके बाद यह समूह टूट गया और लेखक अपने-अपने रास्ते चले गए। अनिल सील के निर्देशन में आयशा जलाल ने द सोल स्पोक्समैन, नामक पुस्तक लिखी और जोया चटर्जी ने *बंगाल डिवाइडेडः हिन्दू कम्यूनलिज्म ऐंड पार्टिशन 1932-47* (कैम्ब्रिज, 1994) लिखी। परंतु यह किसी सामूहिक प्रयास का हिस्सा नहीं था बल्कि इनका व्यक्तिगत प्रयास था।

1982 में इतिहास को देखने, परखने के एक और नजरिए की तरफ लोगों का ध्यान आकृष्ट हुआ। इसे *सबल्टार्न स्टडीज* कहा गया। इसमें इसने कैम्ब्रिज स्कूल की आलोचना की परंतु कुछ मामलों में दोनों में समानता भी है। *सबल्टार्नीस्ट* भी राजनीति में वर्ग विभाजन के महत्व से इनकार करते हैं और वर्ग संबंधों की अपेक्षा सत्ता संबंधों को महत्व देते हैं। वे संभ्रांत वर्ग से सबल्टार्न्स को अलग करके देखते हैं और राष्ट्रवादी संभ्रांतों पर साम्राज्यवादियों के साथ मिलकर काम करने का आरोप लगाते हैं। वे भी *सबल्टार्न* राजनीति की जड़ों की खोज करते हुए स्थानीयता की ओर ही लौटते हैं। इसमें कैम्ब्रिज स्कूल की छाप दिखाई पड़ती है। कुल मिलाकर कैम्ब्रिज स्कूल ने भारतीय इतिहास-लेखन पर अपनी छाप छोड़ी है।

23.8 मूल्यांकन

भारत के सभी इतिहासकारों, मार्क्सवादियों, उदारवादियों और सबल्टार्नीस्टों, ने कैम्ब्रिज स्कूल के संदेहवाद की कड़ी आलोचना की है। उन्होंने कैम्ब्रिज के इतिहासकारों पर 'नेमियरिज्म' को प्रसारित करने का दोषारोपण किया है। ऑक्सफोर्ड इतिहासकार लेविस नेमियर का मानना था कि इंगलैंड की संसदीय राजनीति शुद्ध रूप से स्वार्थ और सत्ता का खेल थी। विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में कैम्ब्रिज स्कूल की आलोचना की गई। तपन रायचौधरी ने 'इंडियन नेशनलिज्म ऐज एनिमल पॉलिटिक्स' से एक धारदार लेख लिखा। बाद के एक लेख में रायचौधरी ने माना कि केवल औपनिवेशिक दृष्टिकोण का परिष्कृत पुनरुत्थान कह कर ही कैम्ब्रिज स्कूल को खारिज नहीं किया जाना चाहिए जिसने भारतीय राष्ट्रवाद को लोभ और स्वार्थ के लिए की जानेवाली होड़ और हड़कंप से ज्यादा कुछ नहीं माना। निश्चित रूप से भारत में अंग्रेजों का शासन कुछ लोगों के सहयोग और अधिकांश लोगों की उदासीनता पर आधारित है और भारतीय राजनीति के इस पक्ष का उद्घाटन कैम्ब्रिज स्कूल ने किया जिससे मसले को समझने की पूरी प्रक्रिया में इजाफा हुआ। इसके बावजूद रायचौधरी इस बात की

आलोचना करते हैं कि साम्राज्यवाद का वास्तविक विरोध जुगाड़ की राजनीति से ज्यादा कुछ नहीं था और भारत के मामले में राष्ट्रवाद सिर्फ एक कल्पनाजन्य घटना थी। उनके अनुसार कैम्ब्रिज स्कूल में भारतीयों के मन में अपमान की व्यापक भावना और सांस्कृतिक आत्मबोध की आवश्यकता पर किसी ने ध्यान नहीं दिया।

अब थोड़ा पीछे घूमकर देखें। कैम्ब्रिज स्कूल के इतिहासकारों ने भारत को दो उपयोगी दृष्टियां दीं। कैम्ब्रिज स्कूल को अस्वीकार और खारिज करने के बावजूद इन दृष्टियों को खारिज नहीं किया जा सकता है। सबसे पहली बात तो यह कि अधिकांश राजनीति स्थानीय थी और संरक्षक-आश्रित के संबंध जाति, वर्ग और समुदाय से ऊपर उठे हुए थे और आज भी यह उतना ही सच है। दूसरे, विविधताओं से भरे इस उपमहाद्वीप, में अंग्रेजी शासन के प्रशासनिक संवैधानिक ढांचे को कसने से निस्संदेह एक केन्द्रीय और राष्ट्रीय सरोकारों के लिए राजनीतिक जगह बनी जिसने राष्ट्रीय आंदोलन को भौतिक और वैचारिक स्तर पर आगे बढ़ने का मौका दिया। निस्संदेह राष्ट्रवाद राजनीति के राष्ट्रीय स्वरूप के बिना कायम नहीं हो सकता और भारत में ब्रिटिश साम्राज्यवाद का परिणाम था अखिल भारतीय स्तर पर राजनीति जो स्थानीय और क्षेत्रीय स्तर से ऊपर थी। भारतीय राष्ट्रवाद की कैम्ब्रिज स्कूल की व्याख्या चाहे कितनी भी तीक्ष्ण और परिष्कृत हो इसमें समुदाय और राष्ट्र की भावनाओं और विचारों का विश्लेषण करने का सामर्थ्य नहीं है।

23.9 सारांश

कैम्ब्रिज स्कूल के इतिहासकारों का यह मानना है कि औपनिवेशिक काल में भारतीय समाज ऊपर से नीचे तक और बीचो बीच विभाजित था। भारतीय राजनीति में स्थानीय और क्षेत्रीय महारथी विभिन्न गुटों में विभाजित थे। अतएव औपनिवेशिक शासन के दौरान साम्राज्यवाद और भारतीय जनता के बीच अन्तर्विरोध नहीं था बल्कि खुद भारतवासियों के बीच अन्तर्विरोध था। इसके अलावा इन इतिहासकारों के अनुसार भारतीय राष्ट्रवाद औपनिवेशिक शोषण के खिलाफ भारतीय जनता का संघर्ष नहीं था बल्कि अंग्रेज शासकों से कुछ हासिल कर लेने की भारतीयों की दौड़ और होड़ का परिणाम था। राष्ट्रीय आंदोलन के नेता बड़े आदर्शों से प्रेरित नहीं थे बल्कि सत्ता और भौतिक उपलब्धि उनका मुख्य उद्देश्य था। इतिहास-लेखन की इस स्कूल की कई इतिहासकारों ने आलोचना की है क्योंकि यह मनुष्य के व्यवहार को केन्द्र में नहीं रखता और राष्ट्रवाद को 'पशु राजनीति' तक सीमित कर देता है।

23.10 अभ्यास

1) कैम्ब्रिज स्कूल से आप क्या समझते हैं? इसके साथ आमतौर पर कौन से इतिहासकार जुड़े हैं?

2) कैम्ब्रिज स्कूल का उदय किस प्रकार हुआ? भारतीय इतिहास की इसकी व्याख्या के आधारभूत घटकों की चर्चा कीजिए।

एम. ए. इतिहास

पाठ्यक्रमों की सूची

पाठ्यक्रम कोड	पाठ्यक्रम का शीर्षक	क्रेडिट
एम.एच.आई.-01	प्राचीन और मध्यकालीन समाज	8
एम.एच.आई.-02	आधुनिक विश्व	8
एम.एच.आई.-03	इतिहास-लेखन	8
एम.एच.आई.-04	भारत की राजनीतिक संरचनाएं	8
एम.एच.आई.-05	भारतीय अर्थव्यवस्था का इतिहास	8
एम.एच.आई.-06	भारत में सामाजिक संरचनाओं का विकास	8
एम.एच.आई.-07	भारत में धार्मिक चिंतन और आस्था	8
एम.एच.आई.-08	भारत में पारिस्थितिकी और पर्यावरण का इतिहास	8

एम.एच.आई.- 3 : इतिहास-लेखन

खंड-वार पाठ्यक्रम संरचना

खंड - 01	इतिहास का परिचय
खंड - 02	पूर्व-आधुनिक परंपराएँ-1
खंड - 03	पूर्व-आधुनिक परंपराएँ-2
खंड - 04	आधुनिक काल में इतिहास-लेखन की दृष्टियाँ-1
खंड - 05	आधुनिक काल में इतिहास-लेखन की दृष्टियाँ-2
खंड - 06	भारतीय इतिहास-लेखन की विभिन्न दृष्टियाँ और विषय-1
खंड - 07	भारतीय इतिहास-लेखन की विभिन्न दृष्टियाँ और विषय-2